प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

आचार्य क्षेमराज कृत 'श्री प्रत्यभिज्ञा हृदय'
की नवीनतम हिन्दी व्याख्या

श्री राम शैव (त्रिक) आश्रम

फतेह कदल, श्रीनगर (1884ई० में स्थापित)
स्वर्ण कॉलोनी, कैम्प गोल गुजराल, जम्मू 180002

मूल्य : 50.00 रुपये

महामहेश्वाचार्य श्री रामजी महाराज
अन्त वासी श्री गोविन्द कौल जलाली

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

आचार्य क्षेमराज कृत 'श्री प्रत्यभिज्ञा हृदय'
की नवीनतम हिन्दी व्याख्या
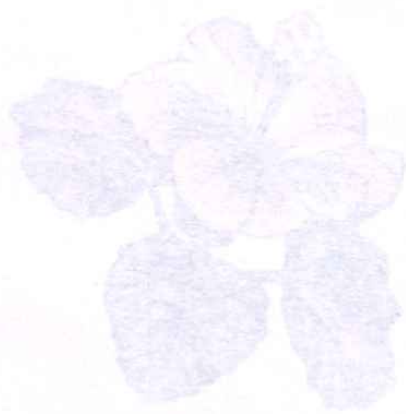
श्री राम शैव (त्रिक) आश्रम

फतेह कदल, श्रीनगर (1884ई० में स्थापित)
स्वर्ण कॉलोनी, कैम्प गोल गुजराल, जम्मू 180002

भूमिका

काश्मीर देश के बारे में 'बिल्हण' लिखते हैं कि यही एक ऐसी जगह है जहां पर केसर के फूलों के साथ-साथ कविता का भी प्रवाह होता है। यही शारदा देश ऐसा है जहां पर 'जीव' को अपना असली स्वरूप जानने के लिये 'त्रिक शास्त्र' का प्रादुर्भाव हुआ।

कलियुग से पूर्व 'त्रिक शास्त्र' के सिद्धान्तो का प्रचार तथा प्रवचन मौखिक रूप से होता था। फिर मुनि दुर्वासा ने इस शास्त्र का उपदेश अपने तीन मानसिक पुत्रों तथा एक मानसिक पुत्री को किया जिन्होंने इसका आगे प्रचार किया। यह मानसिक पुत्रों की परम्परा कई 14 पीढ़ियों तक चली। फिर मानसिक पुत्रों के बदले विवाह करके पुत्र उत्पन्न होने लगे, गुरु-शिष्य परम्परा पिता पुत्र के रूप में चलती रही और त्रिक शास्त्र का प्रचार तथा प्रसार पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहा। परन्तु लगता हे कि कहीं पर यह ज्ञान लोप जैसा हो गया।

आठवीं शताब्दी के अन्त में श्री वसुगुप्ताचार्य ने बहुत समय तक दबे हुए शिव शास्त्र का पुनरुत्थान किया। कहते हैं कि तपस्या में उन्हें आशुतोष भगवान शिव ने आदेश दिया कि श्रीनगर के पूर्व हार्वन के समीप 'दाछी गांव' में एक शिला (शंकरोपलः) पर उन्हें शिवसूत्र खुदे हुए मिलेंगे, उन सूत्रों का मनन करके शिव शास्त्र का प्रचार करे। फलतः श्री वसुगुप्त ने इस शिला पर से 'शिव सूत्रों' को देखा, मनन किया और उनका प्रचार किया। उन्होंने इन्ही सूत्रों के आधार पर स्पन्द सूत्रों की रचना की जिनकी व्याख्या श्री कलट्ट ने की। इसी 'त्रिक शास्त्र' का दूसरा शास्त्रीय रूप श्री सोमानन्द तथा श्री उत्पल देव ने 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के रूप में दिया। इसी गुरु शिष्य परम्परा में आगे श्री अभिनवगुप्त आये। उन्होंने 'तन्त्रालोक', 'तन्त्रासार', 'परमार्थसार', 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' पर टीकाऐं आदि ग्रन्थ लिखे और शैव दर्शन को विस्तार से समझाया। इनके उपरान्त श्री क्षेमराज, श्री योगराज आदि आये। इस परम्परा में आगे श्री शिवोप्ध्याय का नाम आता है जो अठारहवीं शताब्दी के उत्तम शैव संत माने जाते है।

Printed at abc # 2574004, 9419196999

फिर यह परम्परा लोप होती जैसी दिखाई देती है। उन्नीसवीं शता
के अंत में माहेश्वराचार्य स्वामि श्रीराम हुए जिन्होंने इस शैव शास्त्र
पुनरुत्थान किया। उनका आश्रम फतेह कदल श्रीनगर में है जो 'श्री राम
(त्रिक) आश्रम-फतेह कदल' के नाम से जाना जाता है। इनके शिष्यों
मुख्य स्वामि महताब काक हुए। उनके दूसरे शिष्य स्वामि विद्याधर थे
एक महान तपस्वी साधु थे और तीसरे मुख्य शिष्य स्वामि गोविन्द कौ
जलाली थे। 'त्रिक शास्त्र' का प्रचार अब उपदेश तथा अध्यापन द्वारा ही ह
लगा और 'श्री राम शैव (त्रिक) आश्रम' इस का मुख्य स्रोत बना।

'त्रिक शास्त्र' के प्रचार में स्वामि गोविन्द कौल जलाली का योगद
अद्वितीय रहा है। वह गृहस्थी होके भी सर्व्व को 'शिव' रूप ही देखते
उन्होंने निरक्षरों को भी 'त्रिक शास्त्र' में निपुण बनाया। उनके निर्वाण
उपरांत उनके शिष्य महात्मा काशीनाथ जी कौल, श्री प्रेमनाथ नेहरू (मास
जी), श्री बद्रीनाथ नाज़िर, श्री ताराचन्द्र जी तथा डा० त्रिलोकी नाथ गंजू
आश्रम की परम्परा को आगे बढ़ाया।

महात्मा काशीनाथ जी कौल ने अपना सारा जीवन ही 'त्रिक दर्श
के प्रचार में लगाया है। जिन लोगों को देवनागरी भी नहीं आती थी, उ
'पंचस्तवी' जैसे गूढ़ ग्रन्थ पढ़ाये। वही आजकल आश्रम का निरीक्षण त
संचालन करते है।

विस्थापन के उपरांत जम्मू के गोल गुजराल स्थान पर श्रीराम
(त्रिक) आश्रम का निर्माण किया गया। इस आश्रम का निरीक्षण महात
काशीनाथ करते है तथा फतेह कदल और संतनगर (श्रीनगर) के आश्रम
निरीक्षण आजकल डॉ. त्रिलोकीनाथ गंजू करते है।

काश्मीरी पण्डितों को 1990ई. में अपनी मातृभूमि से अकस्म
निष्कासित होना पड़ा। जीवन तथा सम्मान सुरक्षित रखने के लिये भागते

लोग जब अपनी भौतिक पदार्थों को साथ न ला सके तो पैत्रिक ग्रंथ कहां से साथ लाते। हज़ारों घर लूटे गये और न जाने कितने ग्रंथ अग्नि की भेट हो गये या चोरी हो गये।

विस्थापित होते हुए भी अपनी संस्कृति के बारे में जानने की चाह समाप्त नहीं हुई। इसी संदर्भ में साधकों तथा सम्पूर्ण जनहित के लिये श्रीराम शैव (त्रिक) आश्रम गोल गुजराल, जम्मू समय-समय पर उपयुक्त पुस्तकों को पुनः प्रकाशित करने का प्रयास कर रहा है। उसी प्रयास की श्रङख्ला में **'श्री प्रत्यभिज्ञा हृदय'** की व्याख्या रूपी कड़ी जोड़ी जा रही है। यह सब महात्मा श्री काशी नाथ कौल के निर्देश अनुसार किया गया है।

इस प्रयास में डा. तेज कृष्ण ज़ाडू आशिर्वाद के पात्र बने हैं। जिन्होंने यह हिन्दी व्याख्या, अनथक परिश्रम करके लिखी, तथा इसके मुद्रण में सहायता की। स्वामि जी उन पर और उनके साथ इस कार्य में लगे भक्तों पर अनुग्रह करे।

गुरू महाराज हम सब पर प्रसन्न हो।

सम्पादक मण्डली
श्री राम शैव 'त्रिक' आश्रम
फतेह कदल श्रीनगर
कैम्प गोल गुजराल

व्याख्याकार की ओर से 'दो शब्द'

प्रायः यह माना जाता है कि 'त्रिक-शास्त्र' का आविर्भाव आठवीं शताब्दी (ई०) के अंतिम वर्षो में हुआ जब 'आचार्य वसुगुप्त' को स्वप्न में भगवान शिव ने 'शिव सूत्रों' का ज्ञान दिया। यह तब हुआ जब वह 'हार्वन' श्रीनगर, काश्मीर मे तपस्या कर रहे थे। एक और लोक कथा में कहा गया है कि 'आचार्य वसुगुप्त' को भगवान शिव ने कहा कि 'दाछीगाम' के वन में एक बड़ी शिला (जिसे शंकर पल कहते है) को देखे। उसी शिला पर 'शिव सूत्र' खुदे हुए थे। आचार्य वसुगुप्त ने भलीभांति इन 'शिव सूत्रों' का मनन किया, तदुपरान्त उन सूत्रों का प्रचार एवं प्रसार किया।

इस प्रकार 'त्रिक-मत' का प्रचार आचार्य वसुगुप्त के 'शिव सूत्रों' से ही हुआ मानना चाहिए। इस के बाद विभिन्न आचार्यो ने जैसे श्री कलट्ट, श्री सोमानन्द, श्री उत्पलाचार्य, श्री अभिनवगुप्त, श्री क्षेमराज आदि ने इस शास्त्र का प्रचार तथा प्रसार किया।

'त्रिक-मत' के दर्शन (Philosophy) को 'प्रत्यभिज्ञा शास्त्र' में समझाया गया है। इस में श्री सोमानन्द की 'शिव दृष्टि' एक उत्कृष्ट कृति है, परन्तु सब से बड़ी कृति श्री उत्पल देव की **'श्री ईश्वर प्रत्यभिज्ञा'** है। यह ग्रन्थ समझने में थोड़ा कठिन है। **'प्रत्यभिज्ञा सूत्र'** को सरल तरीके से समझाने के लिये श्री अभिनवगुप्त के शिष्य श्री क्षेमराज ने **'प्रत्यभिज्ञा हृदय'** नामक ग्रन्थ लिखा जिसे यहां पर व्याख्या सहित प्रस्तुत किया गया है।

शैव परम्परा जो काश्मीर देश में फलती फूलती रही, मुस्लिम शासन के आने पर प्रायः लुप्त सी हो गई। कोई सौ वर्ष पहिले एक सिद्ध शैव सन्त, 'शिवरूप सवामी श्री राम' हुए, जिन्होंने इस 'त्रिक शास्त्र' का फिर से प्रचार किया। माहेश्वराचार्य श्रीरामजी के तीन प्रमुख शिष्य हुऐ - स्वामी महताब-काक, स्वामी विद्याधर जी तथा स्वामी गोबिन्द कौल जलाली। इनमें स्वामी गोबिन्द कौल जलाली 'श्री राम (त्रिक) आश्रम' फतेह कदल, श्रीनगर

में 'शैव शास्त्र' का प्रचार करते रहे। आजकल उनके शिष्य महात्मा श्री काशी नाथ कौल, 'श्री राम शैव (त्रिक) आश्रम गोल गुजराल, जम्मू' में इस परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं।

स्वामी विद्याधर के प्रमुख शिष्यों में मेरे पूज्य पिता श्री नीलकंठ ज़ाड़ू के बड़े भाई श्री गोपी नाथ जी ज़ाड़ू थे। अतः 'शैव शास्त्र' का अध्ययन आदि हमारी पैत्रिक परम्परा है। अपने पिता से मैने इस शास्त्र के विषय में सुना तथा समझा तथा अपनी माता श्रीमती अरुन्धती ज़ाड़ू से इस शास्त्र का दैनिक जीवन तथा उस की प्रक्रिया में प्रयोग सीखा भी और समझा भी।

काश्मीर से विस्थापित होने के बाद जम्मू में परम आदरणीय गुरू महाराज श्री श्री रघुनाथ जी कोकिल्लू के पास मैने इस शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया और महात्मा श्री काशी नाथ कौल से 'प्रत्यभिज्ञा हृदय' तथा 'परा प्रावेशिका' जैसे ग्रन्थो का मर्म जाना। जिस के फलस्वरूप 'परा प्रावेशिंका' की अंग्रेजी व्याख्या पहिले ही 'श्री राम शैव (त्रिक) आश्रम गोल गुजराल, जम्मू से प्रकाशित हुई है। अब श्री क्षेमराज कृत 'श्री प्रतयभिज्ञा हृदय' का अनुवाद तथा व्याख्या आप के सम्मुख प्रस्तुत है। ग्रन्थ में मूल संस्कृत श्लोक, उनका हिन्दी रूपान्तर, व्याख्या तथा व्याख्या से जुड़ी टिप्पिणियां भी दी हैं। यह सब महात्मा श्री काशीनाथ जी कौल के आशिर्वाद तथा अनुभव के कारण सम्भव हुआ है, जिस के लिए मैं व्यक्तिगत रूप से उनके प्रति आभार प्रकट करता हूं।

इस प्रयास में डा. मोहन लाल बाबू तथा श्री बंसी लाल चल्लू ने मेरी सहायता की। मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सरला जाड़ू को धन्यवाद देता हूं जो मुझे सदा इस प्रयास को पूरा करने के लिए प्रेरित करती रही।

तेज कृष्ण ज़ाड़ू

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघन स्वात्म परमार्थावभासिने।। १ ।।

मैं स्वात्म, कल्याणस्वरूप शिव को सदा नमस्कार[1] करता हूँ। अर्थात, शरीर, प्राण, पुरीष्ठक[2] और शून्य के संकोच को मिटा कर, अपनी अहंता के साथ एकता प्राप्त करता हूँ। स्वात्म-स्वरूप शिव सदा ही पंचकृत्य सृष्टि, स्थिति, संहार, पिदान (विलय) और अनुग्रह करता रहता है। साधक अपने शरीर आदि प्रमातृभाव के संकोच को हटा कर पंचकृत्य करता है और अपने आत्मस्वरूप, जो चित्-आनन्दघन है, उस के परमार्थ को प्रकट करता है।

शिव स्वात्म स्वरूप है। यही स्वात्मस्वरूप शिव अपनी स्वेच्छा से इस सारे जगत का स्वरूप लेता है। साधक जब अपने प्रमातृभाव (अथवा यह विचार कि यह शरीर ही मैं हूँ) को हटाता है तो उसे यह दैवी आलोक (Revelation) प्राप्त हो जाता है कि "मैं" ही "शिव" हूँ और वह अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करता है। साधना करने से इस परम सत्य (महान वास्तविकता – highest reality) को अनुभव करने से उसे आनन्द प्राप्त होता है तथा चित्ति का अनुभव होता है। इसी लिए आत्मस्वरूप को "चिदानन्द" का समोह कहते है। स्वात्म स्वरूप शिव पंचर्कम अथात सृष्टि, स्थिति, संहार, पिदान तथा अनुग्रह निरन्तर करता रहता है। साधक को जब अपने आत्मस्वरूप का अनुभव होता है तो अपने वैयक्तिक कर्म (individual operations) में भी वह पंचकृत्य करता है। तात्पर्य यह है कि साधक सृष्टि में सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह – इसी प्रकार स्थिति में सृष्टि, स्थिति, संहार विलय और अनुग्रह और फिर संहार, विलय और अनुग्रह में भी सृष्टि, स्थिति आदि करता है। इस तरह वह (साधक) अपने में ही ठहर कर जगत को अपनी ही इच्छा से उल्लास में लाकर अंहविर्मश से सृष्टि आदि करता है और फिर इसी प्रकार चिदानन्द से भरे हुये अपने स्वात्म स्वरूप के परर्माथ को प्रकट करता है।

1. शैव – दर्शन में नमस्कार का अर्थ आत्म स्वरूप (शिव) के साथ एकता होने को कहते है। मनुष्य शरीर के चारों कोष्ठकों – स्थूल शरीर, प्राण, पुरीष्ठक तथा शून्य को अपनी अहंता के साथ ऐक्य करने को (अंथात आत्म स्वरूप शिव के साथ लय करने को) नमस्कार कहते है।

2. शब्द, र्स्पश, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि तथा अहंकार, इन आठों के समूह को पुरीष्ठक कहते है।

शंकरोपनिषत्सार प्रत्यभिज्ञामहोदधे:।
क्षेमेणोद्धियते सार: संसारविषशान्तये ।।२।।

शैवागम (शैवर्दशन के सभी ग्रन्थो) के रहस्य "श्री ईष्वर प्रतिभिज्ञा"[1] नामक ग्रन्थ में प्रकट किये गये हैं। इसी प्रत्यभिज्ञा रूपी समुद्र में से श्री क्षेमराज ने, उस (प्रत्यभिज्ञा) शास्त्र का सार रूप यह ग्रन्थ अंथात प्रतिभिज्ञा हृदय नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया है - जो संसार रूपी विष को शांन्त करता है।

1. शैव र्दशन के कई प्रमुरव ग्रन्थ है। उन ग्रन्थों में ईश्वर – प्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ श्री उत्पल्लचार्य की एक उत्कृष्ट रचना है। शैव र्दशन की इस महानकृत्ति को समुद्र की उपमा देकर (इस ग्रन्थ के रचनाकार) श्री क्षेमराज कहते है कि इस अगाध समुद्र का मन्थन करके अमृत रूप में 'प्रत्यभिज्ञा – हृदय' नामक ग्रन्थ समुरव आया है और जो मनुष्य इस अमृत का पान करेगा उस पर संसार रूपी विष[2] का प्रभाव नही होगा या प्रभाव पड ही नही सकता।

2. संसार में जीव जन्म – मरण के चक्र में फिरता रहता है। यह र्कम बन्धनो के कारण होता है और मूल कारण यह है कि हम अपने आत्म स्वरूप (Real-self) को भूल जाते है (This is descent from divine grace)! श्री क्षेमराज कहते है कि 'प्रत्यभिज्ञा हृदय' में जो परम सत्य प्रकट किया गया है उस के समझने से संसार से मुक्ति मिलती है।

इह ये सुकुमारमतयोऽकृत तीक्ष्ण तर्कशास्त्र परिश्रमा: शक्तिपातोन्मिषित – पारमेश्वर समावेशाभिलाषिण: कतिचित भक्तिभाज: तेषाम ईश्वर प्रत्यभिज्ञोपदेशतत्वं मनाक् उन्मील्यते।

इस अनुतर शैव शास्त्र में वे कुछ विरले ही भक्तजन हौंगे जिन्होने तीक्ष्ण तर्कशास्त्रों को समझने के लिए परिश्रम न किया हो, परन्तु जिन्हें परमेश्वर (अपने आत्मस्वरूप) से समावेश की अभिलाषा विकसित हुई है। ऐसे ही कोमल बुद्धिवाले भक्तजनों के लिये श्री ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में बताये हुये उपदेश का थोडा सा सार इस ग्रन्थ में प्रकट किया जाता है।

यहां पर क्षेमराज इस, तथ्य को स्पष्ट करते है कि ईश्वर – प्रत्यभिज्ञा में बताये गये उपदेश का सार ऐसे भक्तजनों के लिए श्रेयस्कर होता है, जिनकी निम्नलिरिवत चार विशेषतायें होती हैं :–

1. सुकुमारमतयो : वह भक्तजन जिन की बुद्धि एक छोटे से बच्चे का जैसी हो, जिसमें मलिनता न हो, समझने की चाह हो, अर्थात ऐसा भक्त जिस में शुद्धरूप से शिष्यतत्व की पात्रता और प्रवृत्ति हो। [one who is desirous of understanding all this, but his intellect (बुद्धि) is still not ripe for grasping (understanding) all this)].

2. अकृत तीक्षण तर्कशास्त्र परिश्रमाः ऐसा भक्त जिसने शास्त्रों का पूरा अध्ययन न किया हो। परम सत्य को जानने के लिए शास्त्रों का अध्ययन और उन को समझना अति आवश्यक है।

3. शक्तिपातोन्मिषित : शाश्वत सत्य (यह शरीर "मैं" नही हू, मैं तो "शिव" ही हूं) को अनुभव करने को शक्ति पात कहते हैं। यहा पर अपने असली स्वरूप को जानने की चाह उत्पन्न होने को ही शाक्ति पात कहा गया है – इस लिये उस भक्तजन की बात ही रही है जिसे शक्ति पात हुआ हो।

4. पारमेश्वर समावेश अभिलाषा : वह भक्त जिसे परमेश्वर (आत्मस्वरूप) के साथ समावेश की अभिलाषा उत्पन्न हुई हो। अंह स्वरूप शिव से एकता प्राप्त करने को समावेश कहते है।

तत्र स्वात्म देवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुरवोपाय प्राप्यत्वं महाफलत्वं च अभिव्यङक्तुमाह।

इस बात को प्रकट करने के लिये, कि अपना आत्मा रूपी देवता[1] ही सभी पदार्थों[2] के बनने (तथा बनाने) का कारण है, तथा वह सुगम उपायों[3] से प्राप्त किया जा सकता है तथा उसकी प्राप्ति का फल बढा[4] है, – यह पहला सूत्र कहता है।

श्री प्रत्यभिज्ञा हदय का पहला सूत्र कहने से पहिले यह कहा गया है कि सूत्र के कहने का अभिप्राय क्या है। जैसा कि रीति (system) है कि पुस्तक के पहिले श्लोक में ही सारी पुस्तक का सार होता है, पहिले सूत्र में प्रत्यभिज्ञा हृदय का सार है। ग्रन्थ र्कता कहते है कि आत्म स्वरूप शिव ही इस जगत (तथा इसके सभी पर्दाथों) का रूप लेते है। इस सत्य को जानना कठिन नही है बल्कि यह सुगम उपायों से जाना जा सकता है, तथा इस 'सत्य' को जानने का फल बहुत बढा है।

1. आत्मा रूपी देवता या स्वात्म देवता की स्वातंत्र्य शक्ति को इस ग्रन्थ में 'चिति' कहा गया है। यही चिति शक्ति ही सारे विश्व के कण कण में व्यापक होकर उसे 'सत्ता' देती है।

2. सभी पदार्थों से तार्त्पय है–सारा जगत

3. शिव अथवा आत्म स्वरूप (higest self) को प्राप्त (जानने) के लिये किसी कठिन उपाय – जैसे कि ध्यान, धारणा – करने की जरूरत नही है। वह सरल तरीके से ही प्राप्त हो सकता है–जैसे कि इस ग्रन्थ में आगे समझाया गया है। अतः इस उपाय को सुरवोपाय कहा गया है।

4. जब साधक इस बात का अनुभव करता है कि वह शिव ही है तो उसे स्वतंत्र भाव की प्राप्ति (ऐक्य की भावना) होती है। इसी भाव की प्राप्ति को 'महा फल' कहा गया है।

चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः ।।१ ।।

चिति भगवती (चिति शक्ति)[1] स्वतंन्त्र[2] है और सारे जगत[3] को सिद्ध[4] करने का कारण है।

उपर कही हुई अवतरनिका के भाव से इस सूत्र के तीन प्रकार के अंथ बनते हैं। जिन की आगे विस्तार से व्यारव्या की गई है। फिलहाल यहां इस सूत्र का शब्र्दाथ प्रस्तुत हैः

1. चितिः स्वात्म स्वरूप अंथात आत्मदेवता की चित शक्ति (Universal consciousness or absolute consiousness) जो विश्व चेतना के रूप र्सवत्र विद्यमान है। परम शिव अंथात आत्म देव की चेतना, जो इस जगत की सृष्टि तथा स्थिति का कारण है और जिस में अन्ततः यह जगत लय हो जाता है (जिसे संहार कहते है) वही परम शक्ति – जिस के कारण यह होता है – उसी को चिति शक्ति कहते है।
2. स्वतंत्र : सारा विश्व आत्म देवता का ही स्फार है, कोई वस्तु उस से भिन्न नही है। जिस प्रकार एक माला में बहुत से मनके (दाने) होते है परन्तु एक ही सूत्र में पिरोये होते हैं, उसी तरह जगत भिन्न भिन्न वस्तुओं का बना तो लगता है परन्तु यह वस्तुयें 'चिति शक्ति में ओत प्रोत है यह (Underlying reality of universe) (आत्म देवता) स्वतन्त्र' है, उस पर किसी नैसर्गिक विधि विधान का बन्धन नही है। वह किसी के अधीन नही है – और चिति शक्ति, जो आत्म देवता से अभिन्न है, वह भी किसी के अधीन नही है अर्थात पूर्णतः ही स्वतंन्त्र है।
3. जगत : वह सब कुछ जो हम बाहिरी आखों से या अन्दर की आखों से देख सकते है।
4. सिद्धि : विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार, इस क्रम को सिद्धि कहते है।

अतः इस सूत्र का सामान्य अेथ यह है कि परम सत्य (आत्म स्वरूप) की चिति शक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है और वह सारे जगत की सृष्टि स्थिति तथा उस जगत को फिर से अपने में लय करने (संहार) का कारण है।

1. स्वतंत्रता : परम शिव पूर्णतः अपने पर ही निर्भर है, उसे किसी बाहिरी वस्तु की जरूरत नही है, क्यों कि उनके परे कुछ भी नहीं है। किसी पर निर्भर न होने को ही स्वतंत्रता कहते है और परम शिव यह जानते है कि 'मैं' किसी पर निर्भर नही हूँ इसे स्वातंत्र्य कहते है। 'शिव' स्वतंत्र है और चिति भगवती जो उनसे अभिन्न है वह भी स्वतंत्र है।

'विश्वस्य' सदाशिववादेः भूम्यन्तस्य 'सिद्धौ'–निष्पत्तौ, प्रकाशने स्थित्यात्मनि परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्ति रुपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतंन्त्रा' – अनुत्तर विर्मशमयी शिव भट्टारिकाभिन्ना 'हेतुः' कारणम।

'सदाशिव' से पृथ्वी तत्व[1] तक तत्वो से बने हुए जगत को प्रकट करने (सृष्टि), स्थिति कराने तथा फिर प्रमातृ में विश्रांति रूप करना अर्थात संहार करने का कारण परा शक्ति रूप चिति भगवती ही है, जो पूर्णतः स्वतंत्र है अथात पूर्ण अहंता के विर्मष से पूर्ण है और शिव भट्टारक (स्वात्म रूप देवता) से अभिन्न है।

यहा पर सूत्र 1 का पहिला अर्थ दिया गया है। जिस में 'कारण भाव के अनुरूप व्यारव्या है। परमशिव जो स्वात्म देवता है, अपने को अपनी स्वेच्छा से 36 तत्वो के रूप में जीव भाव को प्राप्त करता है तथा इस जगत (विश्व) को अपनी चिति शक्ति से प्रकट (manifest) करता है। यह चिति शक्ति ही इस जगत को स्थिति देती है और अन्ततः वापस अपने में ही लय करती है परम शिव भट्टारक (स्वात्म स्वरूप) आनन्द मग्न है। इसी को (Unmanifested state of reality) कहते है। वही जब 'सोचने' लगता है कि जगत के रूप में स्फुरित हुआ जाये तो उस समय के स्पन्दन को शक्ति तत्व कहते है, जो सारे विश्व का कारण है।

यह परा शक्ति शिव भट्टारक (आत्म देवता) से अभिन्न है जैसे अग्नि के दो गुण – प्रकाश तथा उष्णता। जब चिति शक्ति पहले अन्दर से बाहर की तर्फ प्रसार करती है तो सृष्टि होती है, फिर स्थिति करती है और अन्ततः सर्व्व को अपने ही अन्दर लेकर लय, संहार करती है। स्मरण ररवना चाहिये कि कोई 'अन्दर' या 'बाहर' नही है, क्योंकि चिति शक्ति के परे कुछ भी नही है।

1. तत्व 36 है। परम शिव जब जीव भाव में आते है तो 'शिव' तत्व से, जहां पर वह परि पूर्ण है अपनी शक्तियों को अपनी स्वेच्छा से संकुचित करते करते 'पृथ्वी' तत्व तक आकर जीव भाव प्राप्त करते है। इन्ही 36 तत्व का यह सारा विश्व बना है। तत्वों की पूरी व्याख्या के लिये आश्रम से प्रकाशित 'परा प्रावेशिका' देखिये।

अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति; – इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी।

इसी (चिति भगवती) का जगत की और प्रसर करने से जगत की सृष्टि होती है, तथा स्थिति प्राप्त करता है और जब इस प्रसर को अपने अन्दर वापस खींच लेती है तो जगत का संहार होता है। इस ज्ञान का अपना अनुभव ही साक्षी है।

विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार आत्म देवता (परम शिव) की इच्छा के अनुरूप ही होता है और यह सृष्टि आदि कैसी होगी इसकी रूप रेखा (Plan) आत्म देव के मस्तिष्क (Mind) में होता है। जब साधक (जो वास्तव में परम शिव ही है) की चेतना (conciousness) परम शिव के साथ सर्म्पक (Contact) में आती है तो वह जान जाता है कि इस जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार कैसे होता है। – इसी को अनुभव कहते है।

फिर भी उदाहरणरूप, अनुभव क्या है, उस के बारे में फिर से कहेगें। अगर हम किसी वस्तु के बारे में सोचते है जैसे 'मुझे, प्यास लगी है' तो हम पानी के बारे में सोचते है, और पानी से भरा पात्र हाथ में लेते है, यह 'सृष्टि' है । फिर जितनी देर हम पानी पीते रहते है, उतनी देर 'स्थिति' है और जब हमारी प्यास बुझ जाती है तो पानी का रव्याल नही रहता है। – यह 'संहार' है। फिर हम किसी और वस्तु के बारे में सोचते है और यही क्रम दोहराते है।

यह सब का अनुभव है। यही अनुभव इस बात का साक्षी है कि सृष्टि स्थिति तथा संहार करने वाली 'चिति शक्ति' ही है।

अन्यस्य तु माया प्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम, प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः न त्वसौ कश्चित।

अन्य मत वाले माया, प्रकृति आदि को ही विश्व (जगत) का कारण मानते हैं, परन्तु यह सब अगर चिति शक्ति से भिन्न हैं तो प्रकाशमान न होने के कारण असत है और कभी भी इस जगत का कारण नही बन सकते। और अगर माया, प्रकृति आदि प्रकाशमान हैं तो प्रकाश से एकता भाव के कारण प्रकाश रूपी 'चिति' ही हैं और वह 'चित्ति' ही जगत की सृष्टि आदि का कारण है।

दूसरे मतवादी जैसे सांख्य आदि माया प्रकृति आदि को जगत का कारण मानते है, परन्तु यहां पर ग्रन्थकर्ता कहते है कि कोई भी वस्तु तब अस्तित्वमय (exist) हो सकती है जब उस में आत्म देवता की सत्ता (जिसे प्रकाश कहते है) हो। जिस में यह प्रकाश न हो, वह असत होने के कारण हो ही नही सकता अर्थात उस का अस्तित्व ही नही हो सकता है। अतः माया, प्रकृति अगर चिति शक्ति से भिन्न है तो अप्रकाशमान होने के कारण सत्ता हीन है और किसी का कारण नही हो सकते और अगर उनको प्रकाशमान माना जाये तो वह, चिति शक्ति (प्रकाश) से अभिन्न है और वह 'चिति शक्ति ही जगत का कारण है।

अत एव देशकालाकारा एतत्सृष्टाएतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम; – इति व्यापक – नित्योदित – परिपूर्णरूपा इयम। इत्यर्थलभ्यमेव एतत्।

इस लिये देश, काल और आकार जिन्हें 'चिति' ने ही उत्पन्न किया है और जिन को इसी (चिति) ने ही प्राण दिये है, वह इस (चिति) के स्वरूप में भेद नही कर सकते। इस लिये यह 'चिति' देश, काल आकार

से परिमित न होने के कारण क्रमशः व्यापक, नित्य और परिर्पूण है। यही इस सूत्र का अंथ है (अंथात यही परर्माथ जानने के योग्य है)।।

चिति व्यापक (all pervasive) है और ऐसा नही है कि एक देश मे इसका एक अंथ है और दूसरे देश में कुछ और। यह नित्य (ever active) भी है। जैसे भूतकाल में थी ऐसा ही वंतमान में है और ऐसा ही भविष्य में रहेगी अंथात काल (समय) के साथ इस में कोई परिर्वतन नही होता है। यह परिर्पूण (all inclusive) है अंथात इस पर आकार का कोई प्रभाव नही है। यह 'चिति' ही इस सारे जगत का कारण है। यह बात परमार्थ जानने वालो को सुगमता से अनुभव होता है।

'चित्ति' संवव्यापक (omnipresent, prevading everything), नित्य (ever existing, perpetual and eternal) तथा, परिर्पूण (complete and continuous) है। अतः देश, काल तथा आकार से इस में भेद उत्पन्न नही हो सकता। और 'चिति' क्योकि इस सारे जगत का कारण है तो यह देश, काल, तथा आकार (space, time and form) का भी कारण है।

ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किन्चित; अभेदे च कथं हेतु हेतुमद्भाव:? उच्यते। चिदेव भगवती स्वच्छस्बतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति – इत्येतावत्परर्माथोऽयं कार्यकारण भाव:।

यदि चिति और जगत में कोई भेद नही है तो यह अभिन्न है। फिर इन में कोई कार्य कारण भाव कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते है कि चिति भगवती जो निर्मल और स्वतंन्त्र है, अनन्त भेदों से भिन्न बने जगत के रूप में प्रकट होती है, स्फुरित होती है – इस कार्य कारण भाव का केवल इतना परर्माथ है।

यहां पर यह शंका उत्पन्न होती है कि अगर यह जगत कुछ और नही अपितु 'चिति' शक्ति ही है तो यहां पर कार्य कारण भाव कैसे हो सकता है (cause and effect relationship)? हमें लगता है कि हर किसी र्काय (प्रभाव या effect) के लिये कोई कारण (cause) होना चाहिये। उदाहरण स्वरूप वर्षा के होने से कीचड पैदा होती है। मिट्टी से अलग अलग बर्तन बनते

हैं अथात 'मिट्टी' कारण होने से 'बरतनों' के कार्य रूप में परिवर्तित होती है। लेकिन चिति शक्ति र्काय–कारण भाव के आयाम के बिना ही अनन्त भेदों से भिन्न भिन्न प्रकार के बने जगत के रूप में प्रकट होती है। यह ऐसे ही होता है जैसे किसी दर्पण के आगे कोई वस्तु ररवी जाये तो उसका प्रतिबिम्ब ही उस दर्पण में झलकता है। यहां किसी कार्य कारण भाव के बिना ही प्रतिबिम्ब आ जाता है। इसी प्रकार 'चिति' अनायास र्काय कारण भाव के बिना ही जगत के रूप में प्रकट होती है।

यतश्च इयमेव प्रमातृ प्रमाण प्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ – प्रकाशने हेतुः, ततोऽस्या स्वतन्त्रापरिच्छन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुपयुक्तम उपपन्नं वा। तदुक्तं त्रिकसारे[1]

'स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला।।'

जिस कारण चिति ही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय[2] रूपी विश्व (जगत) को प्रकट (सृष्टि) करने का कारण है, उसी कारण यह चिति स्वतन्त्र, अपरिमित तथा स्वप्रकाशरूप है तथा (सिद्धौ का अथ) नये नये पर्दाथो को प्रकट करना जिस का रूप है – ऐसे में कोई भी तुच्छ प्रमाण (चित्ति को सिद्ध करने के लिये) उपयोगी नही हो सकता। जैसा कि त्रिकसार में कहा गया है। :–

(यदि कोई पुरुश) अपने पैरों को अपनी सिर की छाया के पार लेने की चेष्टा करे तो उसके सिर की छाया पावों तले नही आ सकती। (क्योंकि वह छाया आगे को सिरकती है)। यही हाल बैन्दवी कला (ज्ञान कला) का है। (अथात वह प्रमाणों द्वारा सिद्ध नही हो सकती)

अब सूत्र 1 का दूसरा अथ इस प्रकार दिया गया है। सूत्र है 'चितिः स्वतंन्त्र विश्व सिद्धि हेतुः '।। यहां विश्व को प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूपी कहा गया है। प्रमाता (experiencer) प्रमाण (experience) तथा प्रमेय (experienced) सारे विश्व का कारण है। सिद्धि का अथ नये नये पदाथों

को प्रकट करना कहा है और "चिति" को इस प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय रूपी जगत को सिद्ध करने का कारण बताया गया है। "चिति" स्वतन्त्र (sovereign) अपरिमित (un-limited) और स्वप्रकाशरूप (self luminous) है। अतः इस चिति को सिद्ध करने के लिये अगर हम कोई भी प्रमाण देदें तो वह प्रमाण न तो आवश्यक है और न ही लाभप्रद (helpful) ही है क्योंकि प्रमाण का अस्तित्व (existence) भी चिति के कारण ही है। जैसे सूर्य को देखने के लिये दीपक की जरूरत नही होती है।

यहां चिति शक्ति को बैन्दवी कला अथात ज्ञान कला कहा गया है जो परम चेतना (higest conciousness) है, और जो प्रमाणों से परे है (beyond all proofs)

1. त्रिकसार : शैव शास्त्र की एक अनुपम कृति

2. प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण – जो जानने का प्रयत्न करे, जिस को जानने की कोशिश है और जानने की प्रक्रिया में जिस का प्रयोग हो i.e. knower, known and knowing

अतश्च इयं विश्वस्य सिद्धौ पराद्वयसामरस्या पादनात्मनि च संहारे हेतुः, तत एव स्वतन्त्रा। प्रत्यभिज्ञातस्वातन्त्रया सती, भोग मोक्ष स्वरूपाणां विश्वसिद्धीनां हेतुः। – इति आवृत्या व्याख्येयम्।

जिस कारण यह चिति भगवती जगत को परम अद्वैत रूप अहंता के साथ समरस करने के रूप, सिद्ध करने के रूप तथा संहार का कारण है - इसी लिये वह स्वतंन्त्र है। जब इस की स्वतन्त्रता जान ली जाती है तो यह चिति भोग तथा मोक्षरूप सभी सिद्धियों को देने का कारण है (यही इस सूत्र का अंथ है) - आवृत्यया व्यारेव्ययम अर्थात व्यारव्या करने का प्रयोजन भी यही है।

सूत्र 1 का दूसरा अंथ करते हुये श्री क्षेमराज जी कहते है। :– 'विश्वसिद्धि हेतु को दो बार पढना है अंथात सूत्र 1 ऐसे बनता है :

चितिः स्वतंन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु विश्वसिद्धि हेतु। पहिले तो इसका अर्थ यह है कि चिति ही जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार का कारण है और

दूसरी बार इस का अंथ यह है कि चिति ही भोग (ऐश्वंय) तथा मोक्ष (मुक्ति
देने में समेथ है। यह दोनों अर्थ चिति भगवती के सॅव कार्णत्वं भाव को प्रक
करते हैं।

अपि च 'विश्वं' – नील – सुख – देह – प्राणादि; तस्य य
'सिद्धिः' – प्रमाणोपारोहक्रमेण विमर्शमय प्रमात्रावेशः सै
'हेतुः' – परिज्ञाने उपायो यस्याः। अनेन च सुखोपायत्वमुक्तम

और भी विश्व, जो नीलादि पदार्थों, सुरवादि ज्ञानों, शरीर प्राण आदि
बना है, उस विश्व को प्रमाण पर लाकर (क्रम से) विमर्शमय अहं प्रमा
के साथ एकता प्राप्त कराने को सिद्धि कहते है तथा यह सिद्धि ही चि
भगवाती को जानने का उपाय है (इसी को सुख उपाय भी कहते है

चिति भगवती को जानने का एक सरल उपाय बताने के लिये सूत्र 1 व
तीसरा अर्थ बताते है। 'विश्व सिद्धि हेतु' का अर्थ इस प्रकार करते हैः विश्वः
वह सब कुछ जो बाह्य इन्द्रियों के विषय है (अर्थात सारे पर्दाथ जिनके नील
पीला आदि रंग है), एवं वह सब कुछ जो अन्तरइन्द्रियो के विषय हैं (अर्था
अन्तः र्कणो के विषय, सुख दुःख आदि) और देह प्राण आदि, सब मिलाक
यह विश्व बनाते है। सिद्धि : सिद्धि का अंथ है इस विश्व को प्रमाण के म
यम से प्रमाता के विर्मषमय अहंता के साथ एकता करना' 'हेतु : यह एक
करना ।[1] यही चिति भगवती को जानने का उपाय है।

अर्थात 'चिति' भगवती को जानने का उपाय यह है कि सारे विश्व व
प्रमाता के साथ एक्य करना चाहिये। जैसे दूर जलती हुई अग्नि का अनुभ
धुंऐ से होता है, ऐसा ही यहा विचार करना चाहिये। यह तरीका सरल है अ
हसे सुखोपाय कहते है।

1- Rest the field of experience in the Vimarsa Sakti o
experiencer through the medium of experience.

अंथात सारा विश्व जो एक साधक अनुभव (experience) करता है (i.e
the known) उस सारे विश्व को ज्ञान (knowledge) के माध्यम से (विर्म

से) अपने (आत्म स्वरूप के) साथ एक्य करना है (identify with the knower).

यदुक्तं श्री विज्ञान भट्टारके
'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्[1]।
योगिनां तु विशेशोऽयं संबन्धे सावधानता।।'
इति।

**जैसा श्री विज्ञान भट्टारक (भैरव) में कहा गया है :-
ग्राह्य कोन है और ग्राहक कोन है? सामन्यतः यह सभी शरीरधारी जानते है, परन्तु योगी लोग उनके (ग्राह्य और ग्राहक) के बीच के सम्बन्ध को जानते है और सावधान है।**

साधारण देहधारी सामान्यतः यह जानते है कि अमुक पर्दाथ मेरा वेद्य है और मैं उसका वेदक। अर्थात दोनों ग्राह्य और ग्राहक भिन्न भिन्न है। सामान्य लोग अज्ञान में हैं, परन्तु योगी जन ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध जानते है, उसे पहचानते है। उन्हें यह ज्ञान है कि सब कुछ (ग्राह्य और ग्राहक भी) आत्मदेवका स्वरूप है; वह जानते है कि वेदक ही अपनी (स्वात्मदेव की) शक्ति द्वारा वेध का स्वरूप धारण करता है। इसी सब को जानने को ही ज्ञान कहते है। क्योंकि योगियों को इस बात का ज्ञान है – इस लिये उन्हें सावधान कहा गया है।

यदि कोई भी देह दारी इस ज्ञान का अनुभव करे तो स्वात्म देवता को प्राप्त कर लेगा। अतः वेद्य और वेदक को अभिन्न देखना ही सरल उपाय है और सब से बडी पूजा है। इस प्रकार की पूजा के लिये किसी भी सामग्री की कोई आवश्यकता नही है।

1. विज्ञान भैरव श्लोक 208 (धरणा – 89)
2. ऐसे ही साधक के लिये, जो सावधान है, शिवस्त्रोत्रावली का श्लोक 1, कहता है कि वह शोमाययमान भक्त है।

इस संर्दभ में श्री पंचस्तवी का श्लोकस्तव 3 भी देख लीजिये।

'चितिः' – इति एक वचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नताम अभिदधत
समस्तभेदवादानाम अवास्तवतां व्यनक्ति। 'स्वतंत्र' शब्दो ब्रह्मवा
वैलक्षण्यम आचक्षाणः चितो माहेश्र्वयसारतां ब्रूते। 'विश्व
इत्यादिपदम अशेषशक्तित्वं, सर्वकारणत्वं, सुखोपायत्वं महाफल
च आह।। १ ।।

'चिति' एक वचन है, यह जताता है कि चिति में देश और काल से भे (छेद) पैदा नही हो सकता और दूसरे सारे भेदवादी मत वास्तवि स्वरूप को नही जानते। स्वतन्त्र शब्द (इस अनुन्तर शैव मार्ग की वेदान्त मत वादियों से विलक्षणता बताता है। क्योकि इस (मत) में चिति शक्ति को माहेश्वर का सार बताया गया है। विश्व आदि पदों का अथ है कि चिति मै सभी शक्तियां हैं, वह सर्वकारण (अर्थात विश्व की सृष्टि, स्थिति आदि का कारण है) और यह 'चिति' सरल अपायों से जानी ज सकती है और इस को जानने से भोग तथा मोक्ष रूपी बढा फल मिलत है।

सूत्र 1 के दूसरे पदों की व्याख्या करते हुये (श्री क्षेम राज) कहते है कि व्याकरण के अनुसार 'चिति' शब्द एक वचन है। अतः यहां किसी प्रकार द्वैत दुविधा (duality) का प्रश्न ही नही उठता। चिति को देश, काल आदि से परिमित नहीं किया जा सकता और दूसरे मतवादियों (शैव मत के बिना) को वास्तविक्ता का पता नही है। एक वचन होना सब भेद भाव का रिक्त भाव प्रकट करता है। शैव मत में 'चिति शक्ति' को माहश्वर का सार बताया गया है जो दुसरे मतवादियों से भिन्न है। यही 'चिति' सारे विश्व की सृष्टि आदि का कारण है और इस चिति भगवति को पाना बहुत ही सरल है (भेद को हटा कर, यह जानकर कि मै यह देह नही हू, और मैं ही इस विश्व और विश्व की हर वस्तु के रूप में स्फुरित हुआ हूं)[1] और 'चिति' को अनुभव करने का फल यह है कि साधक को भोग तथा मोक्ष दोनों प्राप्त हो जाते है।

1. इस संर्दम में देखिये :–

कोशैरन्नमयाधैः पञ्चभिरात्मा न संत्वतो भाति निजशक्ति समुत्पन्नैः शैवलपटलैरिवाम्बु वापीस्थम (विवेक चूडामणि श्लोक 151) मृत्कोर्य सकलं घटादि सतत

मृन्मात्रमेवाभित – स्तद्वत सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम। यस्मान्नास्ति सत परं किमपि तत् क्षत्यं स आत्मास्वयं तस्मात तत्वमसि प्रशान्तममलं ब्रहमादयं यत्परम।।

(विवेक चूडामणि श्लोक 253)

ननु विश्वस्य यदि चिति हेतुः तत अस्या उपादानाद्यपेक्षायां भेदवादा परित्यागः स्यात इत्याशङ्कय आह

यदि 'चिति' ही इस जगत का कारण है तो इसे जगत को बनाने के लिये सामग्री आदि कारणों की आवश्यकता होगी, जिस से भेद भाव का त्याग करना असंभव है। इस शङ्का का निवारण करने के लिये (दूसरा) सूत्र कहते है।

पहिले सूत्र में कहा गया कि 'चिति' ही इस जगत को सिद्ध करने का कारण है। अब अगर यह माना जाये, तब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जगत को बनाने के लिये चिति को एक तो सामग्री चाहिये और दूसरी बात 'कारण' चाहिये।

जिस तरह एक मिटटी का घडा बनाने के लिये कुम्हार को सामग्री (material, मिटटी आदि) चाहिये और दूसरा कारण (दण्ड, चक्र आदि, instrumental cause) चाहिये।

परन्तु अगर ऐसा है तो भेद भाव (duality) को कैसे छोडा जा सकता है? अंथात भेद समाप्त ही न हुआ।

इस शङ्का का निवारण दूसरे सूत्र में किया गया है।

स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति ।। २ ।।

'चिति' ही अपनी (स्वतन्त्र) इच्छा शक्ति से अपने आप को ही आधार बना कर अपनी ही भित्ति पर जगत को प्रकट करती है।

इस दूसरे सूत्र में यह बताया गया है कि जगत कैसे प्रकट (manifest) होता है तथा आत्मदेव के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। आत्मदेव स्वतन्त्र है और

अपने स्वातंत्र्य शक्ति (भाव) से इस जगत को प्रकट करता है। अथात य जगत 'चिति' ही प्रकट (project) करती है। और 'चिति' इस जगत को अप ही भित्ति पर (on the screen of her conciousness)[1] प्रकट (unfol करती है अथात यह जगत 'चिति' ही है उसी तरह जिस तरह मिटटी व मूर्तियां एक मिटटी की दीवार पर बनाई जायें, अंततः यह सब मिटटी ही और कुछ भी नही। जिस तरह एक दीपक एक ही समय पर प्रकाश भी द है और प्रकाशित भी होता है उसी तरह यह विश्व भी केवल 'चिति' का प्रपञ्च है।

1. 'चिति' इस जगत को अपने आप को ही अधार बना कर अपने पर ही (itse as the canvas) प्रकट (project) करती है।

'स्वेच्छया' न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया, तयैव च, न उपादानाद्यपेक्षया, एवं हि प्रागुक्तस्वातन्त्रहान्या चित्त्वमेव न घटे

अपनी ही इच्छा से, न कि वेदान्तियो की भांति किसी दूसरे की इच्छा से और किसी सामग्री आदि की अपेक्षा न रखते हुये (चिति इस जगत क सृश्टि आदि करती है) – क्योकि (जैसे पहले कहा गया है) ऐसी अपेक्ष रखने से, परतन्त्र हो जाने से, स्वातन्त्रय भाव की हानी होने से चैतन भाव की हानी होती है।

सूत्र 2 का शब्र्दाथ करते हुये पहिले 'स्वेच्छया' का अथ किया गया है स्वेच्छय का अथ है कि चिति पूरी तरह से अपने पर ही र्निभर है (self determined) वह किसी के आधीन नहीं है और जगत रूप में केवल अपनी इच्छा से स्फुरित होती है। दूसरे मतवादियों के लिये (जैसे वेदान्तियो आदि) जगत की उत्पति दूसरे (माया आदि) की इच्छा से होती है। 'चिति' को इस जगत को बनाने क लिये किसी सामग्री (कुम्हार के दंडचक्रादि) की अपेक्षा नही होती है क्योकि अगर 'चिति' किसी दूसरे परू र्निभर होती है तो स्वतंत्र नही होती जो पहिले सूत्र (चिति स्वतंत्र है) के अनुकूल नही है। अर्थात उस में स्वातंत्रय शक्ति की हानी होती है और जब स्वातंत्रय भाव की हानी हो जाये तो 'चिति' भाव ही न बनता।

1. ब्रह्मादिवत:ब्रह्म वादी अंथात वेदान्ती आदि

'स्वभितौ' न तु अन्यत्र क्वापि, प्राक निर्णीत 'विश्वं' दर्पणे नगरवत अभिन्नमपि भिन्नमिव 'उन्मीलयति'। उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटी करणम्। इत्यनेन जगत: प्रकाषैकात्म्येन अवस्थानम उक्तम।। २।।

('चिति' इस जगत को प्रकट करती है) अपनी ही भित्ति पर (on the screen of her consiousness) न कि किसी दूसरी वस्तु को आधार बना कर, जैसा पिछले सूत्र में बताया गया है। (यह विश्व ऐसे ही प्रकट होता है) जैसे दर्पण में नगर का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है जो अभित्र हो के भी (नगर से) भिन्न लगता है। (सूत्र में) उन्मीलन से अभिप्राय है कि जगत जो पहिले से ही 'चिति' में स्थित है, उसी जगत को 'चिति' बाहर प्रकट करती है। इस प्रकार यह जगत अंहप्रकाष रूप 'चिति' के साथ एकता' रखते हुये ठहरा हुआ है।

1. यहां पर ग्रंथकर्ता बता रहे हैं कि 'विश्व' Divine consciousness (चिति) में पहिले से ही (potentially) स्थित है और उसी जगत को 'चिति' अपनी भित्ति (screen of consciousness) पर प्रकट (project) करती है। अर्थात जो कुछ भी हो रहा है वह पहले से ही (potentally) स्थित है अत: जगत 'चिति' से भिन्न नही है, ऐसी ही जैसे दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब अलग तो दिखता है परन्तु मूल वस्तु से भिन्न नही है।

2. यह शैवर्दशन का अनूठा मत है कि जगत मिथ्या नही बल्कि 'परमशिव' से अभिन्न होने के कारण सत है।

अथ विश्वस्य स्वरूपं विभागेन प्रतिपादयितुमाह

अब जगत का स्वरूप, उस के भेदों (भागों) के अनुसार सिद्ध करने के लिये (तीसरा सूत्र) कहते है।

इस विश्व में कहां क्या है? कैसा है? जगत अलग व्यक्तियों को कैसा अनुभव होता है? हर किसी व्यक्ति को जगत एक जैसा लगता है या अलग अलग

और अगर अलग अलग लगता है तो उसका कारण क्या है, यह सब स्प
करने के लिये तीसरा सूत्र कहा गया है।

इस जगत का स्वरूप कैसा है? इस जगत में अलग अलग प्रमा
(experients) है और उनके जो प्रमेय (objects of experience) है व
भी अलग अलग हैं। इसी को स्पष्ट करने के लिये सूत्र कहा गया है।

तन्नाना अनुरूप ग्राह्य ग्राहक भेदात् ।।३।।

यह जगत प्रमाता और प्रमेयों के भेदों के अनुसार कई प्रकार का है

पहिले कहा गया है कि सारा जगत 'चिदानन्द, शिव भट्टारक' में प्रकट हो
से पहिले ही 'स्थित' है (exists potentially) और 'चिति' शक्ति से बाह
उन्मीलित होता है, स्थिर रहता है और अंत में उसी में लय होता है। अतः य
विश्व सिर्फ 'चिति' है और कुछ भी नही, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्
अपनी अवस्था (state of evolution) के अनुसार ही दिखता है। विश्व
ग्राह्य (objects) और ग्राहक (subject) नाना प्रकार के हैं। ग्राह्य औ
ग्राहक की बाह्य तथा आन्तरिक स्थिति भिन्न भिन्न होती है और इसी स्थिति
के अनुसार यह जगत भी दिखता है।

हम इस प्रकार भी कह सकते है कि यह जगत विभिन्न जीवों को एक
जैसा नहीं दिखता, एक चींटी को यह जगत ऐसा नही दिखता है जैसा एक
चील को।

वस्तु साम्ये चिन्तभेदान्तयोर्विभक्त : पन्थाः (योग सूत्र 1V–15)

ऊपर कही हुइ बात योग सूत्र में दूसरे तरीके से कही गई है कि एक
ही चीज़ को अगर कई लोग देख लें (different minds) तो उनको वह
अलग अलग दिखती है। शास्त्रकार इस संदर्भ में एक सुन्दर विवाहित नारी
का उदाहरण देते है कि वह अपने पति को प्रसन्न करती है, दूसरी नारियां
उसकी सुन्दरता से द्वेष करती है, कामी पुरूप उसको काम की नज़र से
देखता है और एक योगी पुरूप की नज़र में वह मिट्टी की मूरत है।

अतः जगत में देखने वाला (perciever) भी अलग अलग हैं और जो
वह देखते है (percieved) वह भी अलग अलग है जिस के कारण इस विश्व
में विचित्रता आजाती है जिससे आश्चर्य भाव हो जाता है।

'तत्' विश्वं 'नाना' – अनेकप्रकारम। कथं ? 'अनुरूपाणां' – परस्परौचित्यावस्थितीनां 'ग्राह्याणां ग्राहकाणां' च 'भेदात्' वैचित्र्यात्।

यह जगत अनके प्रकार का है, कैसे ? उत्तर स्वरूप यह कि भिन्न भिन्न (प्रमाताओं) को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार तथा अनेक ग्राह्यकों (प्रमेयो) की भिन्न भिन्न अवस्था के कारण (यह विश्व) अनेक प्रकार का है।

व्याख्या करते हुये इस प्रश्न का समाधान किया जा रहा है कि अगर यह जगत अनेक प्रकार का है तो कैसे? ग्राह्य, प्रमेय (अथात object of perception) को कहते है और ग्राहक, प्रमाता (perciever) को कहते है। ग्राहक जिस भी वस्तु (object) को देखता तथा समझता (percieve) है उस वस्तु से वह मानसिक प्रभाव (mental impression via eyes, ears, touch etc) ग्रहण (receive) करता है। – और यह वस्तु कैसी दिखती है वह ग्राह्य और ग्राहक की बाहय तथा आन्तरिक स्थिति पर निंभर है, अथात भिन्न भिन्न ग्राहको को यह जगत नाना प्रकार का लगेगा। अतः इस सूत्र का यही अथ निकलता है कि यह जगत कई प्रकार का है।

हर व्यक्ति को यह विश्व अपनी अपनी अवस्था के अनुसार ही दिखता है। इसी कारण शैव अवस्था में जो जीव होता है (self realized soul) उसे यह सारा विश्व 'परम शिव' से भिन्न नही दिखता है, और उसके लिये कोई भेदभाव नही होता परन्तु सामान्य जीवों को इस विश्व की हर वस्तु एक दूसरे से भिन्न भिन्न दिखती है।

तथा च सदाशिव तत्वे अहन्ताछादित – अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं, तादृगेव श्री सदाशिव भट्टारकाधि ाशिठतो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वर – च्छावकल्पिततथा वस्थानः।

वह ऐसे:, सदा शिव तत्व में जहां इदन्ता अस्फुट है और अहंता से आच्छादित है ऐसा ही पर–अपर रूप जगत प्रमेय (percieved) है ऐसा ही इस जगत को जानने वाले प्रमातृ वर्ग (प्रमाताओं के समूह) को मन्त्र महेश्वर कहते है। जिन का अधिश्ठाता श्री सदाशिव भट्टारक है। (और) परमेश्र की इच्छा से यह प्रमाता बने है तथा इनकी स्थिति है।

यहां पर अब जगत के अनेक प्रकार के भेदों का वर्णन आरम्भ होता है और जैसा कि विदित ही है कि यह सारा जगत परम शिव (आत्म स्वरूप) की चित्ति शक्ति से ३६ तत्वों[1] के रूप में प्रकट होता है। शिव अपनी अहंता को संकुचित करता हुआ पुरुश (जीव) भाव में आ जाता है। ऐसा करते हुये वह सदाशिव तत्त्व आदि तत्वों में, अलग अलग अवस्थओं (planes of experience) से गुज़रता है। किसी अवस्था (plane) पर यह जगत (जो प्रमेय है) उसे ऐसा ही लगता है जैसी उसकी (अर्थात ग्राहक यह प्रमाता की) अवस्था है।

पहली स्थिति[2], जब जगत स्वरूप लेने लगता है उस को सदा शिव तत्व कहते है। वह प्रमाता वर्ग (those experiencers) जो इस अवस्था (state) में है उनके लिये यह सारा विश्व अहंता से आच्छादित (dominated) है (अंथात वह जानते हैं कि यह सारा विश्व 'मैं' ही हू)। अभी इदंता (this ness - अर्थात यह वस्तु मुझ से अलग है) विकसित नही हुई है। इन प्रमाताओं के समूह को 'मन्त्र महेश्वर' कहते है। और श्री सदाशिव भट्टारक इनका अधिष्ठाता है। यह सब परमेश्वर की इच्छा से बनते भी और स्थित भी है। सारा, पर तथा अपर जगत इन के लिये ग्राह्य (field of experience) है।

1. आश्रम से प्रकाशित 'परा–प्रावेशिका' देरिवये
2. When Param Siva begins to descend to lower levels of conciousness, by limiting his powers by his own free will, that first stage is Sada Shivtattva.

ईश्वर तत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्ता सामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्ग:।

ईश्वर तत्व में इदन्ता तथा अहन्ता सामान्य अधिकार भाव से प्रकट होते हुये, ऐसा ही इस विश्व को ग्राह्य प्रतीत करते है और ऐसे ग्राहक (जो इस अवस्था में हैं) उनका अधिश्ठाता ईश्वर भट्टारक है और उनको मन्त्रेशवर (समूह) कहते है।

दूसरी अवस्था (level, stage) ईश्वर तत्व की है। यहां पर अहंता और इदन्ता (सामान्य, equal) बराबर बराबर होती है। यहां पर consciousness (अवस्था) कि मैं (अहम) "इस" (इदंता) जगत के रूप में स्फुरित हो रहा हूं, पूरी तरह से विकसित होती है। इस अवस्था में ज्ञान शक्ति सर्वोपरि (supreme) होती है और इस अवस्था के ग्राहक (perciever) को यह पता होता है कि यह सार जगत मैं ही हूं। इंद अंश अब अंह अंश से अलग होने वाला है। वह प्रमाता र्वग जो इस अवस्था पर होते है उन्हे मन्त्रेश्वर कहते है। उनको जो जगत ग्राह्य है (जो उन्हे experience होता है) वह ऐसा ही है र्अथात सारा प्रमेय र्वग इनके इदन्ता और अहंता के सामान्य अधिकार भाव वाला लगता (percieve होता) है। उनका अधिष्ठाता श्री ईश्वर भट्टारक है।

विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तर भेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः, तथा भूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्।

शुद्ध विद्या पद पर श्रीमान अनन्त भट्टारक अधिष्ठाता बन कर (इदंता को) बहुत सी शखाओं और उन शखाओं को भेद से और अलग शखायें करके, (जो अवस्था है) ऐसा ही मन्त्र (नाम वालां) प्रमाता र्वग है तथा ऐसा ही केवल भेदसार वाला विश्व उनका प्रमेय है।

परम शिव की अवस्था प्राप्त (condition) होने के क्रम का अगला पद शुद्ध विद्या तत्व है। यहां पर अहंता और इदंता अलग अलग लगती है (यह मैं हू और यह दूसरी वस्तु है)। इस अवस्था (stage) के ग्राहक को जगत (अपने) अहं से अलग लगता है परन्तु वह जानता है कि यह सारा जगत मैं ही हू। इदंता और अहंता की अलग अलग मात्रा होने के कारण यहां पर प्रमाता र्वग तथा प्रमेय (जगत) बहु–शाखा वाले पेड की तरह विकसित होता है तथा ऐसे

ही भेद पाले विश्व को जो प्रमाता अनुभव करते (experience) है उन्हे "मन्त्र" कहते है। इस प्रमाता वर्ग का अधिष्ठाता श्री अनन्तभट्टारक है।

मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकला: कर्तृताशून्यशुद्रबोधात्मान: तादृगेव तदभेदसारं सकल प्रलयाकलात्मक पूर्वस्थापरिचितम एशां प्रमेयम।

माया से ऊपर (और शुद्ध विद्या के बाद) जो जीव (experients) हैं,उन्हें विज्ञानाकला (प्रमाता) कहते है। यह कर्ता भाव रहित (कर्तृतृशून्य) तथा शुद्ध ज्ञान स्वरूप (शुद्ध बोधत्मन:) है। ऐसे ही उनके प्रमेय, जो उनसे अभिन्न है, सकल तथा प्रलयाकल नाम वाले हैं जो अपनी पिछली (चैतन्य अवस्था) से अपरिचित हैं।

36 तत्वों के क्रम में ईश्वर तत्व के बाद माया तत्व है। परन्तु यहां पर शास्त्र कार माया तत्व तथा ईश्वर तत्व के बीच में एक और पद (a sub state between Iswara tattva and Maya tattva) का होना कहते हैं। इस पद (plane of experience) पर जो प्रमाता (experients) होते है उन्हे 'विज्ञानाकला' कहते है। वह केवल ज्ञान रूप हैं परन्तु कर्ता भाव के रहित (berefet of action) होते है। (इस अवस्थ में वाणी सिद्ध होती है) उनके प्रमेय उन जैसे ही होते है। जिन्हें सकल तथा प्रलयाकल कहते है। वह अपनी पिछली चैतन्य अवस्था (state of awareness) से अपरिचित है।

मायायां शून्य प्रमातृणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम।

माया तत्व में ठहरे प्रमाता शून्य रूप (शुन्य प्रमाता) होते हैं और उनका प्रमेय विश्व भी लीन हुआ जैसा उनके अपने स्वरूप के अनुसार है। उनको प्रलय केवल कहते हैं।

विश्व का रूप 'परम शिव' ही लेते है। शिव और शक्ति तत्व एक दूसरे से अभिन्न हैं और वह शिव ही है। फिर परम शिव अपनी शक्तियों को स्वेच्छा से संकुचित करते हैं। पहिली अवस्था सदा शिव तत्व है और उस अवस्था में शिव जो रूप लेते है वह प्रमाता वर्ग मन्त्र महेश्वर कहलाता है, और उन

प्रमाताओं का प्रमेय उन जैसा ही होता है। यह हम ने ऊपर कहा है। जब शिव इसी तरह संकुचित होता हुआ माया तत्व पर पहुंता है तो उस अवस्था में शिव जो रूप लेते है उस प्रमाता र्वग को 'प्रलीन केवल' कहते हैं। यह प्रमाता शून्य रूप (knowers of void) होते हैं और उनका प्रमेय (field of experience) शून्य ही होता है। अंथात ज्ञान रूप से जड होने के कारण, प्राण या बुद्धि में उनका अहंता रूप चमत्कार से योग नही होता है। (जैसे गहरी नींद में सोये पड़े मनुष्य को न अपनी सत्ता का अनुभव होता है और न अपने इर्द गिंद के जगत का अनुभव, अंथात सुनने बोलने की कोई शक्ति नही होती है)। ऐसे ही प्रमाता को प्रलय केवल कहते है।

क्षितिर्पयन्तावस्थितानां तु सकलानां र्सवतो भिन्नानां परिमितानां तथा भूतमेव प्रमेयम।

(माया तत्व से) पृथ्वी तत्व तक ठहरे हुये प्रमाताओं के समूह को सकल प्रमाता कहते है; वह हर प्रकार से भेदमय तथा संकुचित है और वैसा ही भेदमय (उनका) प्रमेय (जगत) है।

पृथ्वी तत्व से लेकर माया तत्व तक जो भी प्रमाता (experiencer) है, उन में अहंता भाव है ही नही, र्सिफ इदंता भाव है। उनको हर कोई वस्तु अपने से भिन्न लगती है अतः वह भेदमय होते है। उनमें र्सवर्कतृत्व, र्सवज्ञत्व आदि नही होता है अतः वह संकुचित होते है, और उनका जो प्रमेय जगत है वह भी ऐसा ही भेदमय है। अर्थात हर कोई वस्तु दुसरे वस्तु से भिन्न लगती है। इन प्रमाताओं के समूह को 'सकल' कहते हैं।

तदुत्तीर्ण शिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः।

उन सब (पूंवोक्त अवस्थाओं से) उत्तीण केवल शिवभट्टारक है जो केवल प्रकाश रूप है और उसके भाव (प्रमेय) भी केवल प्रकाश रूप है।

इस से पहिले व्याख्याकार ने ३६ में से केवल ३४ तत्वों (सदाशिव से पृथ्वी तत्व) पर अवस्थित प्रमाताओं तथा उनके प्रमेय की व्याख्या की है। इन सब अवस्थाओं से ऊपर स्थित शिवभट्टारक है (शिव तथा शक्ति तत्व को मिला कर जो अवस्था है) ! वह सर्व व्यापक, र्सवर्कतृत्व भाव वाला, र्सवज्ञ, पूंण तथा

नित्य है। अतः प्रकाश[1] रूप है। उसका जो प्रमेय (विश्व) हें वह तो उसका ही स्फार है और उस से अभिन्न होने के कारण प्रकाश रूप ही है।

1. 'प्रकाश' के बारे में जानने के लिये देखिये आश्रम से प्रकाशित 'पराप्रावेशिका'

श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोतीर्ण – विश्वात्मक – परमानन्दमय – प्रकाशैकघनस्य एवं विधमेव शिवादि धरण्यन्तम अखिलम अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत किंचित ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपि तु श्री परमशिवभट्टारक एव इत्थं नाना वैचित्र्य सहस्रै स्फुरति। इत्यभिहितप्रायम।।३।।

श्रीमान परम शिव जो विश्वोत्तीर्ण, विश्वमय, परमानन्दमय और प्रकाशघन है, उसे 'शिव' से लेकर 'पृथ्वी' तत्व तक (२५ तत्व वंग का विश्व) अपने से अभेद (अभिन्न) लगता है। वास्तव में ग्राह्य अथवा ग्राहक कोई भिन्न वस्तु नहीं है अपितु परमशिवभट्टारक ही ऐसे सहस्रों और नाना रूप धरण करता हुआ स्फुरित होता है। यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

ग्रन्थकार तीसरे सूत्र का अभिप्राय (central idea) देते हुये कहते है कि परम शिव विश्वोतीर्ण (transcedent : any thing that is beyond the objective world) तथा विश्वात्मक (Immanent : the entire objective world) है। वह कवेल प्रकाशघन (प्रकाश से परिर्पूण) है और अपने अहंता के चमत्कार के आनन्द में मस्त है अतः परमानन्दमय है और यह सारा विश्व, इस परमशिव से अभिन्न है (यह उनका ही स्फार है)। हमें जो यह विश्व नानाप्रकार के वस्तुओं से बना लगता है, हमारी भेदमय अवस्था में होने के कारण लगता है। वास्तव में हर कोई वस्तु, ग्राह्य तथा ग्राहक, कुछ नहीं अपितु 'शिव भट्टारक' ही है।

यथा च भगवान विश्वशरीरः, तथा

जिस तरह यह सारा विश्व भगवान का स्वरूप है, उसी तरह :

पिछले ३ सूत्रों में 'विश्व' क्या है और कैसा है? इसके विषय में चर्चा की गई है। यहां पर यह सिद्ध हुआ है कि भगवान (२६ ऐश्वर्य सम्पण परमशिव अंथात आत्म स्वरूप) ही यह विश्व है (अंथात ८४ लाख जीवों और असंख्य प्रकार की वस्तुओं के रूप में उल्लिसत होता है)! परम शिव अवस्था में सारा विश्व परम शिव का अपना ही स्वरूप है। परन्तु जब वह जीव भाव में आता है तो उसके लिये विश्व आदि कैसा है यह आगे चौथे सूत्र में कहा गया है।

चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमय: ।।४।।

चिति के संकोच में आने से, परम शिव से एक होने पर भी, चेतन प्रमाता (जीव) का जगत भी संकुचित है।

इस (चौथे) सूत्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीवात्मा वास्तव में कुछ नही, अपिनु परम शिव ही है, जो अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से अपनी समस्त शक्तियों को संकुचित करके जीव भाव में आजाता है। 'चिति' पूंण (infinite, all prevasive and all embracing) है। चिति परम शिव की चेतना (conciousness) है। जीवात्मा वही परम सत्य (reality) है, जहां पर वह परम सत्य (that ultimate reality, Siva) अपनी चेतना (conciousness) को संकुचित करता है। ऐसा होने से जीव अंथात चेतन प्रमाता का जगत (field of concoiusness) भी उसी की तरह संकुचित है।

इस सूत्र का अर्थ हम ऐसे भी कर सकते है : परम शिव का शरीर यह सारा जगत है और जीव भाव में आने पर संकुचित जगत ही उस जीव का शरीर है।

श्री परम शिव: स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचितेन रूपेण अवविभासयिषु: पूर्व चिदैकख्यातिमयानाश्रितशिवर्पयाय शून्याति शून्यात्मतया प्रकाशभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति;

श्री परम्म शिव जब अपने से अभेद विश्व को सदाशिव आदि तत्वों के योग्य रूप से प्रकट करने की इच्छा करता है, तो पहिले वह (परम शिव), अनाश्रित शिव के रूप में प्रकट होता है, जहां पर उसे चिति से एकता का अज्ञान होता तथा वह शून्य तथा शून्य से भी परे रूप में प्रकाश से अभिन्न अंथात प्रकाश रूप से ही स्फुरित होता है।

जब परम शिव इस जगत के रूप में स्फुरित होने की इच्छा करता है तो पहिले स्पन्दन को 'शक्ति तत्व' कहते है। शिव तत्व तथा शक्ति तत्व अभिन्न है। फिर वह सदाशिव आदि तत्वों के रूप में आकर, अपनी शक्तियों को संकुचित करके जीव भाव को प्राप्त होता है। ३६ तत्वों[1] के क्रम में शक्ति तत्व के बाद सदाशिव तत्व आता है। परन्तु यहां श्री क्षेमराज एक और पद (state) कहते है जो शक्ति तत्व तथा सदाशिव तत्व के बीच में है। इसे 'अनाश्रित शिव' का नाम दिया है। जब परम शिव, शिव शक्ति अवस्था से नीचे आते है, तो अनाश्रित शिव अवस्था में उसे चिति से एकता रूप होने का अज्ञान होता है, परन्तु वह प्रकाश रूप ही है। यह अवस्था (दोनों) शून्य तथा शून्य से भी परे है अर्थात शून्य होने पर भी प्रकाश रूप है।

1. देखिये आश्रम से प्रकाशित 'परा प्रावेशिका'

तत:चिद्रसाश्यानतारूपाशेषतत्तव भुवन – भाव – तत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते।

और फिर चित रस के स्थूल भाव रूप से (२५) तत्व, (२८) भुवन और दूसरे पर्दाथो के रूप में तथा उनके प्रमात्रा आदि के रूप में प्रकट होता है।

जिस तरह पानी से बंफ (ice) बनता है उसी तरह चिति रस (जो सारे विश्व में ओत प्रोत है), स्थूल भाव को प्राप्त होकर पर्दाथों तथा उनके प्रमाता आदि के रूप को प्राप्त होता है।

अर्थात सभी ३६ तत्व, 28 भुवन तथा दूसरे पर्दाथ चिति रस के स्थूल भाव रूप है। वह चिति से बिल्कुल अभिन्न है।

यथा च एवं भगवान विश्वशरीरः तथा 'चितिसंकोचात्मा' संकुचितचिद्रूपः 'चेतनो' ग्राहकोऽपि वटधानिकावत संकुचिताशेषविश्वरूपः।

इस तरह जैसे भगवान ही सारे विश्व को अपना शरीर बनाये है, उसी तरह (जीवात्मा रूप में) चेतन प्रमाता (जीव) भी संकुचित चित रूप है, जैसे वट वृक्ष के बीज में सारा वृक्ष संकुचित रूप से स्थित है, वैसे ही जीव में भी सारा विश्व संकुचित भाव से ठहरा हुआ है।

चित्ति आदि अन्त रहित तथा पूर्ण (boundless, all prevasive and all embracing) है और यह सारा विश्व चित रूप अर्थात शिव ही है। कोई भी पर्दाथ शिव से भिन्न नही है। और 'शिव' ही इस जगत के रूप में स्फुरित होते है। अतः इस विश्व को 'भगवान' का शरीर कहा है। 'शिव' ही अपनी शक्तियों को संकुचित करके जीव रूप लेता है अतः जीव (चेतन प्रमाता) भी 'शिव' ही है। अतः जीव में वह सब कुछ है जो भगवान में है परन्तु संकुचित भाव (state) में। अर्थात चेतन प्रमाता में सारा विश्व संकुचित भाव में ठहरा है।

इस बात को समझाने के लिये ग्रन्थकार ने वट वृक्ष का उदाहरण दिया है। वट वृक्ष बहुत बडा होता है, परन्तु वह संकुचित रूप में उसके बीज में ठहरा होता है।

इसी तरह हम एक मोर का उदाहरण दे सकते है। मोर तो इतने सारे रंगों से भरा होता है और सुन्दरता से भर पूर होता है, परन्तु वह सारे का सारा (latent रूप) में मोर के अण्डे में स्थित होता है।

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महा द्रुमः, तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम। (परा प्रावेशिका)

तथा च सिद्धान्तवचनम 'विग्रहो विग्रही चैव र्सव विग्रह विग्रही।'

इति। त्रिशिरोमतेऽपि

'सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये।

प्रथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम।।'

जैसा कि सिद्धान्त के वचन है:
वह परमत्मा शरीर रूप (वेद्य जड) भी है, शरीरधारी (चेतन जीवात्म
रूप भी है तथा सभी शरीरों का शरीरधारी भी है। त्रिशिरोमत में
कहा है:

**हे प्रिये (हे देवी) सुनो, यह शरीर सब देवताओं (तत्वों) से पू
है, इस में कठिन भाव (मास, हड्डी आदि) पृथ्वी तत्व है और द्रव
(गीला) भाग (रक्त इत्यादि) जल तत्व है।**

इस बात को कि यह विश्व (इस में सारे जो पर्दाथ आदि है) परम शिव से भिन्न
नही है, ग्रन्थकार दूसरे शास्त्रों में कही गई बात को यहां कहता है। पहिले
सिद्धान्त में कहे गये वचनो के आधार पर कहते है कि शिव ही सारे पर्दाथ
है, शिव ही सारे जीवों का शरीर है।

इसी संदर्भ में आगे इस बात को समझाने के लिये कि जीव संकुचित
विश्व है अथात जो हमें सारे विश्व में मिलता है वही सब संकुचित रूप में
शरीर में मोजूद है, ग्रन्थकार 'त्रिशिरा मत' का श्लोक देते है। जहां पर परम
शिव, माता शक्ति को संबोधित करते हुये कहते हे कि यह जगत पृथ्वी तथा
जल आदि तत्वों का बना हुआ है और यह शरीर भी इन्ही तत्वों का बना है।
हडी मांस (कठोर भाग) पृथ्वी तत्व है और रक्त आदि द्रव्य जल तत्व है।

इत्युपक्रम्य
'त्रिषिरो भैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः।।'
इत्यन्तेन ग्रन्थेन ग्राहकस्य संकुचितविश्वमयत्वमेव व्याहरति।

**इस श्लोक से आरम्भ किया है कि 'त्रिशिरो भैरव ही प्रत्यक्ष रूप
से जगत में व्यापक (भाव से स्थित) है और ग्रन्थ के अन्त में बताया
है कि जीव प्रमाता का जगत भी परिमित ही है।**

जो कुछ ऊपर कहा गया है उस सब को संक्षेप में कहने के लिये (to
sum up all this, author refers to) त्रिशिरोमत ग्रन्थ की (reference)
देते है जिस के आरम्भ में कहा गया है कि तीन सिर वाला भैरव ही सारे
जगत में व्यापक है। भैरव का अर्थ सृष्टि, स्थिति तथा संहार करने वाला है:
(भः सृष्टि, रः स्थिति तथा वः संहार) वह भैरव इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया स्वरूप

embodiment) है, अतः उसको तीन सिर वाला कहा है। 'व्यापक' का अर्थ कि भैरव (परम शिव) 14 भुवनों में स्थित है । और इसी ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि जीव प्रमाता (individual experient) का जगत परिमित है, अथात ग्राहक (जीव प्रमाता), जो वास्तव में चैतन्य स्वरूप अनाश्रित शिव है, विश्वोर्तीण हो कर भी विश्वमय बन जाता है; और संकुचित भाव में (जीव भाव में) उसका जगत भी संकुचित है।

अयं च अत्राशय :– ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन उक्तागमयुक्तया च विश्वशरीरशिवैकरूप एव, केवलं तन्मायाशक्तया अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात संकुचित इव आभाति, संकोचोऽपि विर्चायमाणः चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वात चिन्मय एव अन्यथा तु न किंचित।

(इस सूत्र का दूसरा) अभिप्राय यह है कि ग्राहक (जीव प्रमाता) भी प्रकाश से एक होने के कारण, और ऊपर बतायें गये शास्त्रों की युक्ति से, विश्व शरीर वाले शिव भट्टारक रूप (ही) है। और उसी परम शिव की माया शक्ति के कारण अपने स्वरूप को न प्रकट करने के कारण संकोच को आया हुआ अवभासित होता है। और अगर विचार करें तो संकोच भी चित के साथ एक होने के कारण चिन्मय ही है। अगर ऐसा नही है तो फिर कुछ भी नही है।

जैसा कि ऊपर यह तथ्य सामने आया कि 'जीव' शिव ही है। 'शिव' ने अपनी स्वेछा से, अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से अपनी शक्तियां संकुचित करके जीव भाव प्राप्त किया। स्वातंत्र्य शक्ति ही माया शक्ति है। इस विश्व में हर कोई वस्तु 'शिव' ही है अतः संकोच को विर्मश की द्रष्टि से देखा जाये तो वह भी चित के साथ एक रूप होने के कारण चिद्रूप ही है नही तो उस संकोच की सत्ता ही नही है।

अभिप्राय यह है कि 'शिव' प्रकाश रूप है और जीव प्रमाता प्रकाश से एकात्मा होने के कारण केवल शिव स्वरूप ही है। और उसकी माया शक्ति से अप्रकट स्वरूप वाला तथा संकुचित दिखाई देता है। वास्तव में अगर विचार

किया जाये तो संकोच भी चित से प्रेरित होने के कारण चित स्वरूप ही क्योंकि संकोच का अपना कोई स्वरूप नही है, इसी तरह अज्ञान का अप कोई अलग स्वरूप नही है।

इति र्सवो ग्राहको विश्व शरीरः शिव भट्टारक एव।
तदुक्तं मयैव
'अख्यार्तियदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते।
ख्याति चेत ख्यातिरूपत्वात ख्यतिरेवावशिष्यते।।'
इति। अनेनैव आशयेन श्री स्पन्द शास्त्रेशु 'यस्मार्त्सवमय जीवः............।'

अतः सब ग्राह्क (जीव प्रमाता), विश्व शरीर वाले शिव भट्टारक ही है जैसा कि मै न कहा है। अप्रकाश यदि प्रकट नही है तो प्रकाश प्रकट और यदि वह अप्रकाश प्रकाशमान है तो अप्रकाश को भी प्रकट करत है। इसी आशय से श्री स्पन्द शास्त्र में भी कहा है। जिसकारण जी (जीव प्रमाता) र्सवमय है।

इसी बात को सिद्धकरने के लिये कि विश्व में सब कुछ 'शिव' से अभिन्न और 'शिव' प्रकाश रूप है अतः र्सस्व 'प्रकाश' रूप ही है यहां तक कि अज्ञा भी अन्ततः 'प्रकाश' ही है, श्री क्षेम राज अपने ही एक श्लोक में कही हुई बा का सहारा लेते है जहां उन्हो ने कहा है कि अगर अख्याति (अज्ञान) प्रक नही है (is not experienced) तो केवल रव्याति ही बचती है। और अग अज्ञान को ज्ञान (रूप भाव) से जान ले तो भी केवल ज्ञान ही बचता है अर्थात सब कुछ (यहां तक कि अज्ञान भी) प्रकाश (शिव) से अभिन्न है अत जीव भी 'शिव' से अभिन्न है।

इसी तरह श्री स्पन्द शास्त्र में भी कहा गया है कि जीव तथा य जगत एक (identical) है।

इत्युपक्रम्य

'तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।।'

इत्यादिना शिवजीवयोरभेद एव उक्तः। एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः, एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः; इति भविश्यति एव एतत्।।४।।

और इस सब का सार हैः शब्दो, उनके अर्थों और चिन्ताओ में ऐसी कोई अवस्था नही है, जो कि शिव रूप नही है।। (इस श्लोक में) और दूसरे श्लोकों में शिव और जीव में अभेद (एकता) कही गई है। इस तत्व (परर्माथ) का जानना ही मुक्ति है और इस के न जानने से ही बन्धन (संसारी) हो जाता है। इस का निर्णय आगे होगा।

सार रूप (conclusion) श्री क्षेम राज कहते हैं कि (जीव की कोई भी अवस्था ऐसी नहीं होती है जहां वह 'शिव' नही है। जैसे कि हम कोई शब्द बोलते है, या वह कोई पर्दाथ जो उस शब्द से हमारे विचार में आता है (percieve) या जो भी इन शब्दों या पर्दाथों का सार (comprehension) है वह सब तो 'शिव' ही है। अंथात अब तक 'शिव' और 'जीव' एक ही है, इस को बतायागया। आगे इसी जगह 'मुक्ति' क्या है इसकी व्याख्या की गई है।

जो जीव यह जानता है कि सारा विश्व 'शिव' से अभिन्न है वह मुक्ति को प्राप्त होता है और जिसे भेद भाव होता है वह र्कमबन्धों से संसारी हो जाता है। योग सूत्रों में जो 'चित्त वृत्ति निरोधः' कहा गया है उस से जीव अपनी आत्मा से एक होता है, परन्तु उसे 'शिव' से थोडा सा भेद लगता है (थोडी इदंता बचती है)! जब इस अवस्था से परे (transcend) हो जाते हैं तो मात्र 'अहंता' रहती है और जीव परमात्मा से एक्य हो जाता है, इसे ही मुक्ति कहते हैं। मुक्त जीव संसार के सारे काम ऐसे ही करता है जैसे एक साध ारण जीव करता है, परन्तु वह इस सारे विश्व को उस परम शिव के रूप में ही देखता है। इस बात को आगे के सूत्रों में पूरी तरह से समझाया गया है।

ननु ग्राहकोऽयं विकल्पमयः, विकल्पनं च चित्तहेतुकं; सति च चित्ते, कथमस्य शिवात्मकत्वम्? — इति शङ्कित्वा चित्तमेव निर्णेतुमाह।

(यहां एक शङ्का उठती है) कि ग्राहक (जीव प्रमाता) तो विकल्पों से भ है और विकल्पों का कारण मन है। तो जब मन ही (इनका) कारण तो (जीव) कैसे शिव स्वरूप है। इस शङ्का के निवार्ण हेतु, मन का क स्वरूप है इसका वंणन करने लिये (अगला, पांचवा) सूत्र कहते है।

पिछले सूत्रों में जीव के स्वरूप तथा उसका परमात्मा के साथ संम्बन्ध के ब में कहा गया। और यह सिद्ध किया गया कि जीव और शिव में कोई भेद न है।

यह जीव में एक मानसिक प्रक्रिया (mental phenomenon) ही जिस कारण जीव अपने असली स्वरूप को नही जानता है और उसव शक्तियां संकुचित होती है। यह जो जीव है वह तो संकल्प – विकल्पमय है अ सारे संकल्प विकल्पों का कारण मन है। मन (limited individu conciousness) अगर इन सब का कारण है तो जीव कैसे शिव स्वरूप सकता है, यह शंङ्का उत्पन्न होती है। इसी शङ्का का निवार्ण करने के ह अगले सूत्र में , मन (चित्ति) का स्वरूप क्या है, यह बताया गया है।

चितिरेव चेतनपदादवरूढा
चेत्य – संकोचिनी चित्तम् ।।५।।

चिति (भगवती) ही चेतन पद से अवरूढ होकर (नीचे उत्तर कर) चेत से संकुचित होने के कारण चित्त कहलाती है।

चिति (conciousness) अपने मूल पद, जो चिन्तन करने का पद अथा स्थान है, (चैतन्य पद) उस से नीचे आकर शून्य और वेध (जड) पदार्थों व और सन्मुख हो कर, संकुचित हो जाने से चित्त (individual conciousness अर्थात मन रूप बन जाती है।

चिति तो केवल एक है (an integrated state) ! जब संकोच ग्रह करने से 'शिव' जीव प्रमाता का रूप लेता है तो उसका ग्राह्य (जगत) भी उस की अवस्था के अनुरूप दिखता है। अतः एक ही अवस्था (state) अब क अवस्थाओं में अलग अलग लगती है (differentiates into a number

states) तो वह जो अवस्था (mental mechanism) अवभासित होती है उसे ही 'मन' अर्थात 'चित्त' कहते है।

जीव' को यह जगत ऐसा ही लगता है जैसी उस की 'स्थिति' (state of evolution) है और वह (mind में) जो उसकी तरंगे (thought waves) होती है उन से ही (identify) पहचाना जाता है। जैसा योग सूत्र में कहा है वृत्रि सारूप्यमितरत्र) (1–४) यह चित्त जहां से सारी वृत्तियां उत्पत्र होती है, उसी को मन कहा गया हे और ग्रन्थकार यह कहता है कि चित्ति वास्तव में चिति का ही संकुचित रूप है।

न चित्तं नाम अन्यत् किंचित्, अपि तु सैव भगवती तत्। तथा हि सा स्वं स्वरूपं गोपियत्वा यदा संकोंच गृह्णाति, तदा द्वयी गतिः, कदाचित उल्लसितमपि संकोचं गुणीकृत्य चित्प्रधान्येन स्फुरति, कदाचित संकोचप्रधानतया। चित्प्राधान्यपक्षे सहजे प्रकाशमात्रप्रधानत्वे विज्ञानाकलता; प्रकाशपरार्मश प्रधानत्वे तु विद्याप्रमातृता। तत्रापि क्रमेण संकोचस्य तनुतायाम, ईश – सदाशिवानाश्रित रूपता। समाधिप्रयत्नोपार्जिते तु चित्प्रधानत्वे शुद्धाध्वप्रमातृता क्रमात्क्रमं प्रकर्षवती। संकोच प्राधान्ये तु शून्यादिप्रमातृता।

मन कोई भिन्न वस्तु तो नही है, अपितु चिति ही मन बन जाती है। वह ऐसे, यह (चिति भगवती) जब अपना चित्स्वरूप छिपा कर संकोच ग्रहण करती है, तो उसकी गति दो प्रकार की होती है। कभी तो विकास (उल्लास) में आकर, सकोच को (दबा कर) अप्रधान रख कर, और चित को प्रधान बना कर प्रसर करती है (स्फुरित होती है) और कभी संकोच को प्रधान बना कर स्फार में आती है। पहिले पक्ष में जहां चित की प्रधानता है, स्वाभाविक प्रकाश के प्रधान होने से विज्ञानाकल प्रमाता भाव होता है। इस के आगे जब प्रकाश और विर्मश दोनो प्रधान होते हैं तो शुद्ध विद्या प्रमाता भाव प्रकट होता है। इस (अवस्था) से आगे ज्यों संकोच कम होता है तो ईश्वर भाव, सदाशिव भाव और अनाश्रित

शिवभाव प्रकट होता है। समाधि के यत्नों से जब चित् की प्रधानता प्र
की हो, तो शुद्धाध्व प्रमाता भाव (विज्ञानाकल से शिव तक) क्रमशः प्र
होता जाता है। दूसरे पक्ष में जहां संकोच प्रधान रहता है वहां श
(प्रलयाकल) और सकल प्रमाता भाव रहता है।

ऊपर यह कहा गया कि 'चिति' का ही संकुचित रूप चित्त (मंन)
यहां पर ग्रन्थकार जीव अवस्था में 'चित' क्या होता है वह कहते है। अ
'चिति' भगवती अपनी 'स्वेछा' से अपनी शक्तियों को संकुचित करके मन
स्वरूप लेती है तो 'जीव' अथात सकल प्रमाता भाव में आती है। और उ
जीव का मन जब संकोच को हटा लेता है तो वही जीव विज्ञाना कल प्रम
भाव से होता हुआ शिव भाव को प्राप्त होता है।

यहां पर हम देखते है कि 'मन' ही जीव भाव या शिव भाव को प्र
करता है। जीव भाव में 'मन' ही यह भास देता है कि मैं शिव नही बल्कि
'शरीर' हूं और जब इसी 'मन' को समाधि आदि के प्रयत्नों से 'चित' की
ानता प्राप्त होती है तो शिव भाव प्राप्त होता है।

1. देखिये पराप्रावेशिका – 'मनः संकल्प साधनम'। मन का अपना कोई ठोस रूप नही
यह तो संकल्प विकल्पों का बना है। 'चिति' भगवती जब अपने स्थान से अवतरित ह
है तो वही 'मन' का रूप लेती है।

एवमवस्थिते सति, 'चितिरेव' संकुचितग्राहकरूपा 'चेतन पद
अवरूढा' – अर्थग्रहणोन्मुखी सती 'चेत्येन' – नील सुखादि
'संकोचिनी' उभयसंकोच संकुचितैव चित्तम। तथा च

'स्वाङ्गरूपेशु भावेशु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये ते एव पशोःसत्त्वं रजस्तमः।।'

जब यह (ऊपर कही गई) बात सिद्ध है तो चिति भगवती ही संकुचि
प्रमाता का रूप धारण करके अपने चेतन पद से नीचे उत्तर कर पदा
(वेद्यों) की और संमुख होकर नील – पीतादि, सुख दुखादि वेद्यों
संकुचित होकर, चेतन पद से उतरना और वेधों का ग्रहणा करना,
दोनो से संकुचित होकर 'मन' बन जाती है। जैसा कि कहा भी है

शिव को सभी पर्दाथ अपने अंगो जैसे, (अर्थात अपने से अभिन्न) हैं।

और उसके ज्ञान, क्रिया तथा माया (शक्तियां) ही जीव दशा में क्रमशः सतोगुण रजोगुण और तमोगुण बन जाती है।

ऊपर कही हुई बात की फिर से व्याख्या की गई है कि चिति ही संकुचित ही कर 'मन' बन जाती है। यह संकोच दो प्रकारों से ग्रहण होता है। एक तो वह चेतन पद से उतर कर ग्राहक का रूप लेती है और दूसरा इस ग्राहक (जीव) अवस्था में आकर (बाह्य) नील पील आदि वेद्यों तथा (आंतरिक) सुख दुख आदि का अनुभव कर लेती है। और यही संकुचित अवस्था 'मन' (mind) है।

श्री प्रतिभिज्ञा शस्त्र में भी कहा गया है कि 'शिव' ही इस सारे 'विश्व' का स्वरूप लेता है। अथात इस विश्व के सारे पर्दाथ शिव से अभिन्न है। इसी बात को समझाते हुये शास्त्र में कहा गया है कि 'शिव' को यह सारा विश्व और इसके पर्दाथ अपने अंगो जैसा लगते है। 'शिव' सर्वशक्तिमान है और उसकी तीन प्रधान शक्तियां है। ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति तथा माया शक्ति। 'शिव' जब 'जीव' भाव में आता है तो यह तीन शक्तियां क्रमशः सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण बन जाती है और यही तीन फिर 'मन' के रूप में स्फुरित होती है।

1. अगर हम किसी ऊंची जगह से पृथ्वी को देख ले तो सारी पृथ्वी समतल (Plane) लगती है, परन्तु नीचे आकर सारी वस्तुयें अलग अलग साफ (Resolved) दिखती है। 'मन' भी यही करता है। यह 'चिति' भगवती जब ऊपर से नीचे आकर मलत्रयों के आवरण से विषय वासनाओं के पीछे लगती है, तो वह 'मन' का स्वरूप लेती है। 'मन' को हम एक समपार्श्व (Prism) जैसा मानसकते है जो सूय के प्रकाश (white light) को सात रंगों में अलग अलग करता है (dispersion)। धर्म, अधर्म, सुखःदुखादि ये सब मन के धर्म है। इसी लिये अष्टावक्र गीता में कहा है।

र्धमार्धमौ सुखं दुखं मानसानि न ते विभो। न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा ।। 1–6।।

इत्यादिना स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञान – क्रिया – माया – शक्तिरूपा पशुदशायां संकोच प्रर्कषात सत्व – रजस्तमः स्वभावचित्तात्मतया स्फुरति, – इति श्री प्रत्यभिज्ञायामुक्तम।

अत एव श्री तत्त्वगर्भस्तोत्रे विकल्पदशायामपि तात्त्विकस्वरूपसद्भावात् तदनुसरणाभिप्रायेण उक्तम्

'अत एव तु ये केचित्पर्मार्थानुसारिणः।
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्टवं न लुप्यते।।'

इति ।।५।।

(इस, तथा) इत्यादि (दूसरे) श्लोकों से (जैसा उन श्लोकों में कहा गया है) स्वतन्त्र रूप चिति शक्ति ही ज्ञान, क्रिया और माया रूप से पशु (जीव) भाव में संकोच के बढ जाने के कारण सत्वोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप से मन के रूप में स्फुरित होती है। यह श्री प्रत्यभिज्ञा (शास्त्र) में कहा गया है। इसी कारण श्री तत्त्वर्गभस्तोत्र में कहा है, क्योंकि विकल्प दशा (जीव भाव) में भी तात्त्विक (पारमार्थिक) स्वरूप का सद्भाव है इसलिये उस पर्मार्थ का अनुसरण करना चाहिये, इसी अभिप्राय से (तत्त्वर्गभस्तोत्र) में कहा है:

वह कुछ थोडे से पुरुष (जीव) जो इस पर्मार्थ का अनुसरण करते है, उन्हे जीव भाव में भी अपने वास्तविक स्वरूप (शिव भाव) एवं अपनी प्रकाशमानता का लोप नही होता है।

ऊपर कहे हुऐ के अनुसार 'शिव' स्वतन्त्र है और चिति भी स्वतन्त्र है। अंथात चिति का स्वरूप 'स्वातन्त्रय' ही है। चिति भगवती की तीन *प्रधान* शक्तियां ज्ञान, क्रिया तथा माया है। क्योंकि पशु अवस्था अंथात जीव तो वस्तुतः शिव ही है जिस ने अपनी स्वेछा से अपनी शक्तियां संकुचित की है, इस लिये यह तीन शक्तियां भी 'जीव' में किंचित मात्र में होगी। यही तीन शक्तियां संकुचित होकर जीव भाव में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के रूप में उल्लसित होती है।

इसी बात को श्री तत्वर्गभ स्तोत्र में भी कहा गया है, कि जीव दशा, जो संकल्प तथा विकल्पों से भरी है, अतः विकल्प दशा है, उस अवस्था में भी 'शिव' अवस्था प्राप्त हो सकती है। अभिप्राय यह है कि जीव दशा में हो कर भी, अपनी दैनिक क्रिया करते हुए भी जीव को यह ज्ञान रह सकता है कि वह तो वस्तुतः 'शिव' ही है। और यही ज्ञान असली परमार्थ है। इसी बात का अनुसरण करना चाहिये। वह विरले जीव जो इस पर्मार्थ को जानने का प्रयत्न करते है उन्हे जीव भाव में भी अपनी प्रकाशमानता तथा शिव स्वरूप का ज्ञान रहता है।

चित्तमेव तु माया प्रमातुः स्वरूपम, – इत्याह

मन ही माया प्रमाता का स्वरूप है। इसी लिये (अगला छटा सूत्र) कहा है।

माया प्रमाता, जीव को कहते है। चित्त (मन अर्थात (contracted conciousness, mind) ही इस माया प्रमाता (individual जीव) का असली स्वरूप है। चित्त ही प्रधान है। इसी बात को अगले कूट्टे सूत्र में कहा गया है।

तन्मयो मायाप्रमाता ॥६॥

माया प्रमात्मा मनोमय है।

माया प्रमाता का अर्थ है 'वह जानने वाला (प्रमाता) जिस का ज्ञान, माया से ढका हुआ हो', माया प्रमाता 'जीव' को कहते है। इसको 'देह प्रमाता' भी कहते है। पांचवे सूत्र में 'मन' का स्वरूप क्या है, यह बताया गया। अब इस सूत्र में यह कहते है कि 'जीव' वस्तुतः 'मन' ही है अर्थात जीव में चित्त (मन) ही प्रधान रहता है।

देहप्राण पदं तावत् चित्तप्रधानमेव, शून्य भूमिरपि चित्तसंस्कारवत्येव, अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुध ावनाभावः स्यात; – इति चित्तमय एव मायीयः प्रमाता।

देह और प्राण के पद पर मन ही प्रधान होता है। (इसी तरह) शून्य अवस्था में भी चित्त (मन), संस्कार रूप में रहता है। अगर ऐसा नही होता तो जीव उस शून्य अवस्था से बाहर निकलने पर अपने कर्तव्य करने का अभाव अनुभव कर लेता। अतः माया प्रमाता मनोमय है।

साधारण मनुष्य (जीव) को अपने वास्तविक स्वरूप का कोई ज्ञान नही होता है। जब वह अपने शरीर (देह) को ही असली (मैं–I) समझता है, उस को देह पद कहा है; और जब प्राण को 'मैं' समझता है, उसे प्राण पद कहते है। इन अवस्थाओं में जीव को जो वासनायें, और चाहते होती है, वह उन में ही डूबा होता है। यह सब 'मन' की ही बनाई है। प्रमातृ भाव की इन अवस्थाओं में मन

ही प्रधान रहता है। जाग्रत, स्वपन और सुषप्ति के बाह्य जगत के बिल्कु अदृश्य होने वाली अवस्था को शून्य अवस्था कहते है। इस शून्य होने वा अवस्था में भी मन संस्कार रूप में रहता है, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता शून्य अवस्था से निकलकर (जैसे सुषप्ति से जाग कर) जीव को अपने कर्त करने का अभाव होता। अर्थात वह शून्य अवस्था से पहले होने वाले कर्त को जागने पर स्मरण नही करता। अतः जीव प्रमाता मनोमय है।

अमुनैव आशयेन शिव सूत्रेशु वस्तु वृत्तानुसारेण
'चैतन्यमात्मा' (१–१)
इत्यभिधाय माया प्रमातृलक्षणावसरे पुनः
'चित्तमात्मा' (३–१)।
इत्युक्तम्॥६॥

इसी आशय से शिवसूत्र मे पहिले आत्मा का वास्तविक स्वरूप बताने लिये 'चैतन्यमात्मा' अर्थात आत्मा चैतन्य स्वरूप है, ऐसा कहा गया है और इसके पश्चात माया प्रमाता (जीव) के स्वरूप का लक्षण बताने अवसर पर कहा है 'चित्तमात्मा' अर्थात आत्मा मन है।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? इस बारे में शिवसूत्र के पहले सूत्र कहा गया है "चैतन्यमात्मा" अर्थात आत्मा चैतन्य स्वरूप है। जिस को चेत है वही चैतन्य है। हर किसी ज्ञान (भाव) में, हर काम करने की अवस्था स्वतंत्र होने के भाव को चैतन्य कहते है। "र्सवस्मिन तंत्रयति तत्र स्वातंन्त्र जो अपनी चित शक्ति को घट पट में ऐसे ही विस्तारित करता है जैसे धा माला के हर एक मनके में पिरोया होता है, उसे ही स्वतंन्त्र कहते है। स ज्ञान तथा क्रिया के संबन्ध में पूण स्वातंत्र्य भाव वाले को 'परम शिव' कह है। अंथात परम शिव (परम आत्मा) चैतन्य स्वरूप है।

जब परम शिव अपनी स्वेच्छा से अपनी शक्ति को संकुचित करता तो वह 'जीव' भाव (माया प्रमाता) को प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में व विषय वासना में लिप्त होकर बुद्धि मन तथा अहंकार रूपी चित्त (मन, min को ही आत्मा का स्वरूप मानता है। अतः जीव भाव में 'मन' ही आत्मा है

जीव अज्ञान में अपने असली स्वरूप को न जानकर, संसारी बन कर आवागमन के क्रम में फंस जाता है। अगर 'जीव' को अपने असली स्वरूप का ज्ञान हो जाये तो वह मुक्त[3] हो जायेगा।

1. "चैतन्यमात्मा" – शिव सूत्र के प्रथम विकास (शाम्भव उपाय) का पहिला सूत्र है। अर्थात "चैतन्य" (चिति) ही आत्मा है। भाव रूप और अभाव रूप जगत का जो स्वभाव है वही आत्मा है। जानने की क्रिया में स्वातंन्त्र्य ही आत्मा है।

2. "आत्मा चित्तम" – शिव सूत्र के तृतीय विकास (आणवोपाय) का पहिला श्लोक। गमन शील को आत्मा कहते है। जीव जन्म, बाल्य, यौवन, जरादि अवस्थाओं, स्वप्न जाग्रदादि अवस्थाओं में, सत्व, रज तथा तमस आदि वृत्तियों में गमन करता है। यही आत्मा 'मन' स्वरूप है। मन सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण वृत्तियों से बना है और संकल्प, विकल्प, विषय, वासनाओं से रंगा है। अभाव रूप जगत में 'आत्मा' का रूप चित्त (मन) है, और शाम्भव अवस्था में "चैतन्य" रूप है।

3. देखिये अष्टावक्र गीता प्रकरण 1 श्लोक ४

यदि त्वं देहि पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।।
अधुनैव सुखी च शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि।।

अस्यैव सम्यक स्वरूपज्ञानात यतो मुक्तिः, असम्यक तु संसारः, ततः तिलश एतत्स्वरूपं निर्भङ्क्तुमाह

जब कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने से मुक्ति होती है और उसका ज्ञान न होने से संसार में फंस जाता है अतः इसका स्वरूप पूरी तरह से निर्णय करने के लिये (सातवां) सूत्र कहा है।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है यह अगले सूत्र में समझाया जा रहा है। जब हमें यह धारणा है कि यह शरीर ही "मैं" हूं तब तक तो कर्म बन्धों के कारण हम संसारी ही रहेंगें। एक बार जब "परम सत्य" का बोध[1] हो जाऐगा तो सारी गुत्थिया सुलझ जायेंगी और जीव शिव भाव को प्राप्त होगा, जिसे मुक्ति कहते हैं।

1. साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम
एतत्तत्वोपदेशेन न पुर्नसम्भवः ।। अष्टावक्र गीता (२–१८)
हे जीव! तु शरीरादि (साकार) को मिथ्या जान, आत्मा (निराकार) को निश्चल नित्य जान। इस यर्थाथ उपदेश से संसार में पुनः उत्पति नही होती है।

2. तिलशः तिल की परह। यहां ग्रन्थ कार यह कहते है कि जिस तरह तिल के दाने छोटे और अलग अलग होते है उसी तरह इस बात को कि आत्मा क्या है, पूरी तरह से (छोटा छोटा करके) समझाया जायेगा– (will be analyzed)

स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः ।७

वह (आत्मा, परम शिव) एक ही है। वही दो रूप वाला, त्रिगुणात्मक और चार रूप (स्वभाव) वाला बनता है और उसके सात, पाच (रूप वाले अर्थात), पंतीस स्वभाव है।

परम शिव एक ही है और यह सारा विश्व उसी में समाया है और वही परम शिव स्वेच्छा से इस विश्व की अनगिनित वस्तुओं के रूपों में उल्लसित होता है। यह सब कैसे होता है, उसी को समझाते हुये कहते है कि परम शिव (आत्मा) तो एक है, वही दो रूप वाला है, तीन गुणों से युक्त है, चार रूप और सात, पांच और (7X5=35) पंतीस स्वभाव वाला है।

निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव 'एक' आत्मा, न तु अन्यः कश्चित; प्रकाशस्य देश कालादिभिः भेदायोगात; जडस्य तु ग्रहाकत्वानुपपत्तेः।

पिछले (सूत्र) की निर्णय की हुई द्रष्टि के अनुसार चिदात्मा शिवभट्टारक ही अकेला एक 'आत्मा' है। उसके बिना कोई दूसरा अन्य नही है। क्यों कि प्रकाश को देश काल आदि भेद नही ला सकते है। जड पर्दाथ का ग्राहक (प्रमातृ) भाव सिद्ध नही हो सकता।

पिछले सूत्रों में निंणय किया गया है कि 'परम शिव' एक ही है (It is an integrated state) वह प्रकाश रूप है और वह अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से जीव भाव को प्राप्त करता है।

परम शिव तो स्वतः ही स्थित है (exists by itself) प्रकाश रूप है और हर किसी वस्तु (में) होने के कारण उस वस्तु को प्रकाशमान करता है। प्रकाश (अंथात शिव) एक ही है, इसमें देश, काल तथा आकार भेद नही ला सकते। और अगर ऐसा नही होता तो जड पर्दाथ की सत्ता ही नही होती और जीव (या जड) को ग्राहक भाव (knowership) कभी नही हो सकता।

1. परम शिव (आत्मा) एक ही है। यह भिन्न भिन्न देशों में भिन्न नहीं है। इसी तरह यह जैसा कल था, ऐसा ही आज हैं और वैसा ही कल भी रहेगा। यह हर किसी वस्तु में स्थित है

और अलग अलग आकार लेने से भिन्न भिन्न नही बनता। अगर ऐसा नही होता तो जड़ पदार्थ (शरीर आदि) प्रकाश मान नही होते, और उनमें ग्राहक भाव सिद्ध नही हो सकता।

प्रकाश एव यतः स्वातन्त्र्यात् गृहीतप्राणादि संकोचः संकुचितर्थिग्राहकतामश्नुते, ततः असौ प्रकाश रूपत्वसंकोचावभासवत्त्वाभ्यां 'द्विरूपः'।

प्रकाश (शिव) ही अपनी स्वतन्त्र शक्ति से प्राण आदि का संकोच ग्रहण करके संकुचित पर्दार्थों का ग्राहक बनता है। इस लिये प्रकाश रूप (होने के कारण) और संकोच को प्रकट करने वाला (संकुचित होने के कारण) इस के दो रूप है।

'शिव' अपनी स्वेच्छा से अपनी शक्तियों को संकुचित करके जीव भाव को प्राप्त होता है। 'प्राण' आदि का संकोच ग्रहण करके वह संकोचित विद्यों (जैसे पंचभहाभूत, तन्मात्र शब्द, र्स्पश, रूप, रस, गन्ध सुख दुःख आदि, तथा मन बुद्धि अहंकार) की ग्राहकता को प्राप्त करता है। अतः उस के दो रूप है – एक तो प्रकाश रूप, और दूसरा संकुचित। 'स्वभाव' शब्द का अर्थ प्रकृति भी है। अर्थात परम शिव जो वस्तुतः एक ही है, उसके दो रूप है पुरुष और पृक्रति, अतः वह दो रूप वाला है।

आणव – मायीय – कार्ममलावृतात्वात् 'त्रिमयः'।

आणव मल, मायीय मल और कार्ममल, (इन तीन मलों) से आवृत होने के कारण तीन मय है (तीन मलों से युक्त है)!

जब परम शिव अपनी स्वेच्छा से जीव भाव को प्राप्त होता है तो वह अपने को तीन प्रकार के मलों से आवृत करता है, यह तीन मल है।

1. आणवमल :– स्वरूप का न जानना और क्रत्रिम पर्दथों को ही आत्मा मानना, आणव मल होता है। इस से स्वातंत्र्य का अभाव अथात अर्पूणता का अनुभव होने लगता है। अथात अपनी महिमा को गोपित रखकर, मोह में जाकर, अपने वास्तविक स्वरूप को भूलना और संकोच में आना (यही सब जो 'जीव' भाव में होता है) उसे ही आणव मल कहते है।

2. मायीयमल :– विद्यों का अलग अलग भासित होना (शिव से अलग लगना) ही मायीय मल है। इस मल से द्वैत प्रथा का भाव होने लगता है। षटकञ्चुकों[1] के आवरण से 'जीव' अपनी वास्तविक स्थिति को जिस कारण भूलता है, और पांच महाभूतों से निर्मित देह को ही 'आत्मा' समझता है, उसे ही मायीय मल कहते है।
3. कार्म मल :– जिस कारण शुभाशुभ वासनाएँ प्रकट होती है उसे कार्म मल कहते है। अन्तः करण के अधीन होकर, बुद्धि और कर्म इन्द्रियों के कारण बाहर की तर्फ जो जीव की प्रीति कराता है उसे ही कार्म मल कहते है। इसी मल से कर्मों के कारण वासनाएं प्रकट होती है और स्थूल शरीर का आश्रय लिया जाता है।

अगर सिर्फ आणव मल का आवरण हो तो विज्ञानाकल अवस्था होती है। आणव तथा मायीय दोनों मलों का आवरण हो तो प्रलयाकल अवस्था है। और अगर तीनों आणव, मायीय तथा कार्म मल का आवरण हो तो सकल अवस्था।

अतः परम शिव अपनी स्वेच्छा से अपने असली स्वरूप को इन तीन मलों से ढकता है अतः "त्रिमय" है या वह तीन अवस्थायें[2] (विज्ञानाकल, प्रलयाकल या सकल) प्राप्त करता है अतः तीन स्वभाव वाला है।

1. काल, विद्या, राग, कला, नियति तथा माया, यह छः कञ्चुक कहलाते है।
2. विज्ञानाकल प्रमाता, माया (और महामाया) के अर्न्तगत, होते हैं। कला से पुरुष तक प्रलयाकल प्रमाता तथा प्रकृति से पृथ्वी तक (जो २४ तत्व है) सकल प्रमाता कहलाते है।

शून्य – प्राण – पुर्यष्टक शरीरस्वभावत्वात् 'चतुरात्मा'।

शून्य, प्राण, पुर्यष्टक और शरीर का स्वभाव रखने के कारण यह चार स्वभाव वाला है।

'शिव' अवस्था से जीव भाव में आकर उसके चार स्वभाव होते है। एक शरीर (स्थूल, देह), दूसरा पुर्यष्टक, तीसरा प्राण और चौथा शुन्य[2]। इस कारण जीव की प्रमातृता, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और शून्य अवस्थाओं में रहती है।

1. देह चार प्रकार का होता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा पर।
2. पराप्रावेशिका देखिये।

'स्पतपञ्चकानि' शिावादिपृथिव्यन्तानि पञ्चत्रिंशत्तत्वानि 'तत्स्वभाव:'।

शिव' से पृथ्वी तत्व तक जो पैन्तीस तत्व हैं, ऐसा ही स्वभाव वाला है।

परम शिव' जब स्वेछा से जीव भाव ग्रहण करता है तो उसकी 35 अवस्थायें होता है और उनको ही 35 तत्व कहते है। मूलत: तो 36 तत्व है परन्तु शिव तथा शक्ति क्योकि अभिन्न है अत: इनको हम अगर एक ही गिन ले तो तत्व ३५ ही है। हर किसी तत्व के सम (coresponding) एक अवस्थाा (experient) है, ग्राहक है। अत: शिव की ३५ अवस्थायें होती है।

तथा शिवादि – सकलान्त – प्रमातृसप्तक स्वरूप:; चिदानन्देच्छा – ज्ञान – क्रिया शक्ति रूपत्वेऽपि अख्यातिवशात कला – विद्या – राग – काल – नियति कञ्चुकवलित्वात् प्रपन्चकस्वरूप:। एवं च शिवैक – रूपत्वेन, पञ्चत्रिंशत्तत्वमयत्वेन, प्रमातृसप्तकस्वभावत्वेन चिदादिशक्तिपञ्चकात्मकत्वेन च अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिद:, अन्यथा तु संसारहेतु:।।७।।

और शिव से सकल प्रमाता तक सात प्रमाता रूप हैं। (जीव) चित, आनन्द, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति रूप हेते हुऐ भी अज्ञान के कारण (यह शक्तियां) क्रमश: कला, विद्या, राग, काल तथा नियति (का रूप लेकर) पांच कञ्चुंकों से लिपटा हुआ होने के कारण पांच स्वरूप वाला है। इस तरह 'शिव' जो एक ही रूप वाला है) वह एक शिव रूप भाव, २४ तत्व रूप भाव से, सात प्रमाताओं की स्वभावता और चित आदि पांच शक्ति रूप से (इस शिव भट्टारक, आत्मा का स्वरूप) ठीक से जाना जाये तो मुक्ति को देने वाला है (यदि इसका स्वरूप न जाना जाये), अगर ऐसा न हो तो संसार का कारण बनता है।

यही 'शिव' जो 'एक' ही है ;– शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल प्रलयाकल तथा सकल – इन सात प्रमाताओं का रूप लेता है अतः उसके सात प्रमाता रूप है। 'जीव' तो मूलतः 'शिव' ही है और शिव भाव में उसकी पांच शक्तियां है : चित शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति। 'शिव' अपनी इन शक्तियों को संकुचित करके 'जीव भाव' में इनको कला, विद्या, राग, काल तथा नियति का रूप देता है। अतः परम शिव अपने को पांच प्रकार की सकोचों (Limitations) से, अंथात ५ कञ्चुको से आवृतित करता है अतः उसके ५ रूप है। जो 'जीव' 'प्रत्यभिज्ञा' से, ठीक से यह जानता है कि 'शिव' जो एक रूप है, वही ३५ तत्व रूप से सप्त प्रमाताओं के रूप से और चिदानन्द ५ शक्ति रूप से उल्लसित होता है उसे मुक्ति मिलती है और जो यह बात नहीं जानता है, वह तो र्कम बन्धों में फस कर जन्म मरण रूप संसार चक्र में आता जाता रहता है।

1. परम शिव तो चिदानन्द घन है। वह जानते हैं कि "मैं" ही सर्स्व हूं और शिव 'शक्तिमान' है चित शक्ति उनकी पहिली शक्ति है। शिव और शक्ति एक ही है। यहां पर आनन्द (bliss) है। इसी को आनन्द शक्ति कहते है। मैं (शिव) ही इस विश्व का रूप लूंगा यह 'इच्छा शक्ति' के कारण है। मैं ही यह विश्व हू यह ज्ञान, ज्ञान शक्ति से है और मैं विश्व के रूप में स्फुरित हो रहा हू, यह क्रिया शक्ति से है। 'शिव' की यह पांच शक्तियां चित आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया – 'शिव' के पांच गुण (attributes) संवर्कतृत्व (मैं सब कुछ कर सकता हूं, omnipotent), संवज्ञत्व (शिव सब कुछ जानता है, omniscient) – पूंणत्वं (शिव पूंण है, Complete), नित्यत्वं (शिव नित्य है, perpetual), व्यापकत्व (शिव हर किसी जगह है, Omnipresent) – यह पांच तो जीव भाव में भी है परन्तु संकुचित भाव में। जीव में यही पांच शक्तियां कला (थोडा सा करने का भाव), विद्या (थोडा सा जानने का भाव) राग (यह मुझे चाहिये, यह न चाहिये) काल, (आज, कल तथा कल का ज्ञान) नियति (मुझे यह करना चाहिये और यह नही करना चाहिये) इन रूपों में पाई जाती है। अतः शिव जिसकी ५ शक्तियों हैं वह जीव भाव में आकर भी अपनी शक्तियों को संकुचित करके भी, किञ्चित मात्र में यह ५ शक्तियां रखता है, अतः उसको ५ रूप वाला कहते है।

2. जो यह जानता है कि मैं यह देह नही अपितु 'शिव' ही हू वही मुक्त है। इसी ज्ञान के होने को मुक्ति कहते है, "विद्याभिज्ञापितैश्वर्यस्तु चिद्धनो मुक्तः परम – शिव एव" और जो इस ज्ञान से वञ्चित है वह र्कम बन्धों के कारण संसार रूपी जाल में फस जाता है।

मोक्षस्य न ही वासीऽस्ति न ग्राम्यान्तरमेव वा।
अज्ञानहदय ग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।।

मोक्ष का किसी ग्राम, गृह के अन्दर निवास नही है। अज्ञान रूपी हृदय ग्रन्थि नाश को ही मोक्ष कहते है।

एवं च

तद्भूमिका: सर्वदर्शनस्थितय:॥८॥

इस प्रकार

उसी (आत्मस्वरूप शिव की) (भिन्नभिन्न) भूमिकायें सारे (अलग अलग) मतों (दर्शानों) के सिद्धान्त हैं।

दर्शन (System of Philosophy) कई है और वह मनुष्य, उसके साथ सारा विश्व और परमात्मा, इन के बीच में क्या सम्बन्ध है, इस गुत्थी को समझने का प्रयत्न करते हैं। हर किसी मत के भिन्न भिन्न सिद्धान्त (assumptions and subtle logical reasoning) है जिन पर इस मत की नींव है।

सातवां सूत्र हमें यह कहता है कि परम शिव तो एक ही है (one, integrated state) परन्तु जब इस को बुद्धि से विश्लेषण किया जाता हैं तो इस के अलग रूप (aspects) लगते हैं, और वस्तुत: यह सब रूप उसी एक परम शिव के भिन्न भिन्न रूप (या भूभिकाये – as the role played by an actor) हैं।

भरतीय संर्दभ में –र्दशन का अंथ है 'सत्य को देखना' (vision of truth)। र्दशन (या Philospohy) सत्य को जानने का एक प्रयत्न है। प्राचीन समय से मनुष्य ने इस सत्य को जानने का प्रयत्न किया है कि "मैं" कोन हूं, "मैं" कहां से आया हू और कहां जाऊंगा, मृत्यु क्या है, मेरा इस विश्व के दूसरे प्रणियों से, और दूसरे स्थावर जंगम वस्तुओं से क्या सम्बन्ध है। इस सब को जानने की कोशिश में कई महापुरुष आये और उन्हों ने अपनी बुद्धि (या state of evolution) के अनुसार इन प्रश्नों का उत्तर दिया। इन सब को हमारे पूवजों ने ऋषि की उपाधि दी। और अलग अलग मत बन गये।

भारतीय र्दशन की एक विशेषता यह है कि जब भी कोई मतवादी एक मत के बारे में बोलता है तो पहिले वह दूसरे मतवादियों के सिद्धान्त

बताता है (पूर्वपक्ष)। फिर इन सिद्धान्तों का खन्डण किया जाता है। अन्त वह अपने मत को बताता है (उत्तरपक्ष) और फिर सिद्वान्त (or conclusion देता है।

सातवें सूत्र में यह बताया गया कि सारे मत और उनके जो सिद्धान हैं वह सब परम शिव की ही भूमिकायों है। इस संर्दम में देखिये "त्रयी साख्यं योगः..................." श्री महिम्नस्तोत्र श्लोक 7

भारतीय र्दशन (र्सव र्दशन संग्रह – माधवार्चाय देखिये) की तो यही विशेषत है कि दूसरे मतों को गलत नही बताता है अपितु सब को एक परम शिव क जानने का साधन मानता है। भार्तीय र्दशन के (main schools) है चारवाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, मीमास (उत्तर और पूर्व), न्याय, वैशेषिक वेदान्त तथा त्रिक (शैव)!

'सर्वेषां' र्चावाकादिदर्शनानां 'स्थितयः', सिद्धान्ताः 'तस्य' एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीताः क्रत्रिमा 'भूभिकाः'।

चार्वाक आदि सभी मतों के सिद्धान्त उस नट रूप आत्मा की अपनी इच्छा से ग्रहण की हुई कृत्रिम (झूटी) भूमिकायें (रूप) है।

सूत्र का पहिला अर्थ करते हुये ग्रन्थकार 'र्सवेषा' का अर्थ चार्वाक आदि सारे दर्शन, "स्थितयः" का अर्थ (उन मतों) के सिद्धान्त; उसी एक आत्मा, जो एक नट की तरह है और जो अपनी इच्छा से कृत्रिम भूमिकाये ग्रहण करता है, (वह सिद्धान्त) उसी के रूप है।

एक नट (actor) कई प्रकार की भूमिकायें करता है परन्तु वस्तुतः वह तो एक ही रहता है। वह कई प्रकार के आवरण (make up) धारण करता है तो कभी पंडित बनता है तो कभी चोर, कभी नर कभी नारी, परन्तु उसका मूल स्वरूप तो एक ही है।

उसी तरह 'आत्मा' अपनी स्वेछा से कई रूप ग्रहण करता है जिन रूपों को भिन्न भिन्न मतवादी अपने अपने तरीकों से बताने की कोशिश करते है। अतः उन मतों के सिद्धान्त तो उस परम शिव के ही रूप है। और यह सब रूप जो "कृत्रिम" है, उसी परम शिव (आत्मस्वरूप) की ही भूमिकायें है, वास्तव में सब शिव ही है।

तथा च 'चैतन्य विशिष्टं शरीरमात्मा'
इति चार्वाका:।

जैसे कि "चैतन्य स्वस्त" (चलने फिरने वाला) शरीर ही आत्मा (का स्वरूप) है। यह चारवाक मत का सिद्धान्त है।

चारवक मत का सिद्धान्त है कि जो हम देख और महसूस (percieve) कर सकते है वही सत्य है बाकी सब झूठ है। क्योकि हम भौतिक पर्दाथ ही देख सकते है (material world) अत: वही सत्य है। यह सब चार तत्वों (वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) का बना है और यह शरीर भी इन ही तत्वों का बना है। आत्मा (Soul) या परमात्मा (God) के होने के कोई प्रमाण नही है अत: वह है ही नही। यह शरीर ही चैतन्य है, और इस शरीर के नष्ट होने के साथ ही सब कुछ (चेतना भी) नष्ट होती है। यह सारा संसार (और शरीर) परमात्मा ने नही बल्कि चार तत्वों के मिलने से बनता है। अत: परमात्मा को जानने की कोशिश बेकार है। जितनी देर जीव जीवित है, उसे भौतिक सुखों को भोगना चाहिये, क्योकि एक दिन इस शरीर को नष्ट होना है, और फिर कुछ भी नही रहता है। पुर्नजन्म आदि सब मिथ्या है।
(पिव, खाद च वरलोचन) एवं यावत जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कुरोत घृतं पिवेत भस्मी भूतः इदं शरीरः, पुर्नजन्मः कुथं भवेत। चारवाक मत "नास्तिक" है और वेदों और पुराणों को नही मानता है। धर्म और अर्थ सिर्फ "काम" की पूर्ति के लिये है, उनका मत है।

नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धि तत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम।

'न्याय' आदि दर्शनों के अनुयायी संसार की अवस्था में बुद्धि तत्व को ही ज्ञान आदि गुणों का आश्रय और आत्मा का स्वरूप मानते है। मुक्ति की अवस्था में बुद्धि का आभास न होने पर 'शून्य' स्थिति की प्रप्ति होती है।

न्याय मत गौतम ऋषि ने दिया है। यह मत सोच (correct thinking) माधयम से परम सत्य को जानने के बारे में है। इस के अनुसार ज्ञान के च मुख्य स्रोत है।

1. प्रत्यक्ष (Perception)
2. अनुमान (Inference)
3. उपमान (Comparison)
4. शब्द (Testimony)

न्याय मत भी दूसरे मतों की तरह जीव को शरीर, ज्ञान इन्द्रियों तथा उन विषयो के बन्धनो से मुक्त करने का रास्ता ढूंढता है। आत्मा (self) और म (mind) अलग अलग वस्तुऐं है। मन, अणु की तरह, तोडा नही जासकता (is indivisible) और इसी के माध्यम से सुख और दुःखादि का भास हो है। आत्मा को चेतना (conciousness) के गुण (attributes) हो जाते जब वह किसी वस्तु का इन्द्रियों से आभास करता है। र्तक के माध्यम से त ज्ञान होता है जिस से अपर्वग (मुक्ति या liberation) प्राप्त होता है, अपर्व इस मत के अनुसार दुःखो (pain & suffering) से छुटकारा है। मुक्ति अवस्था में आत्मा को न तो दुख होता है और न सुख। और न चेतना है (यह सब बुद्वि के कारण है) इसी अवस्था को "शून्यअवस्था" कहा गया है

अहं – प्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत
– इति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्वावेव निविष्ठाः।

आत्मा का स्वरूप अहं प्रतीति से जानने योग्य है और वह (आत सुखदुःख आदि उपादियो से तिरस्कृत है। इस प्रकार मानने वाले मीमां शस्त्र के अनुयायी भी बुद्वितत्त्व पर ही स्थित है।

मीमांस (पूंव मीमांस) जैमिनि ऋषि की देन है। इस का, वेदांत (या उ मीमांस) के धार्मिक संस्कारों (ritualistic) को आधार देने का प्रयत्न है। 'वे ही मीमांस का आधार है और इनके अनुसार वेद किसी मनुष्य विशेष ने न लिखे है, आपितु सनातन (eternal and self existing) है। 'वेद' जो करने को कहते है वही 'धर्म' है।

वैदिक धार्मिक संस्कार का आधार कुछ बातों पर है जैसे कि आ मृत्यु उपरान्त भी रहती है और कर्मो का फल स्वंग में भोगती है; एक ऐ

सत्ता है जो किये गये कर्मों का फल देती है, 'वेद' से परे कुछ भी नही है; तथा यह संसार सत्य (real) है और हमारा जीवन एंव कर्म (जो यहां किये जाते है) वह 'स्वपन' नहीं है। बौद्ध, जैन तथा चारवाक, वेदों को नही मानते है। संसार का सत्य होना तथा आत्मा का होना बौद्ध नही मानते है। कुछ उपनिषद यह नहीं मानते कि र्स्वग की प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष है और उनके अनुसार धार्मिक संस्कार अच्छे र्कम है और कुछ नही। मीमांस इन सब बातों का खण्डन करने का प्रयत्न करके धार्मिक संस्कार को ही र्सवोपरि मानते हैं। इस मत के अनुयायी भी बुद्धि तत्व से परे नहीं जाते है।

ज्ञानसंतान एव तत्वम – इति सौगता बुद्धि वृत्तिषु एव पर्यवसिता:

भिन्न भिन्न ज्ञानों की संततिया ही आत्मा का स्वरूप है। ऐसा मानते हुये बौद्ध मत के अनुयायी (संगति) भी बुद्धि की वृत्तियों पर ही अपनी स्थिति रखते है।

बौद्ध मत भगवान बुद्ध की देन है। बौद्ध मत चार 'सत्यों' पर आधारित है।

1. हर किसी सुख के साथ कोई न कोई दुख होता है।
2. संसार में कोई वस्तु अपने ही कारण (self existant) नही है। संसार में कोई भी वस्तु नही है जो नाश नही होती है। हमारे 'दुख' के कुछ कारण है। पहिला कारण संसार में जन्म लेना है (existence is suffering)। जन्म का कारण हमारी इच्छायें (desires – तृष्णा है) और तृष्णा का मूल कारण अज्ञान है। अगर हम समझ ले कि संसार की हर वस्तु नाशवान है तथा उस से दु:ख ही मिलता है तो हम उनके पीछे नही जायेगे – तब जन्म नही होगा और दुख का अन्त होगा।
3. दुख के कुछ कारण है और अगर उन कारणों को हटा लिया जाये तो दुख का अन्त होगा।
4. दुख के कारणों को हम आठ तरीकों से हटा सकते हैं (eight fold way) – उचित द्रष्टिकोन एवं उद्धेश्य (views), उचित संकल्प (determination), उचित वाणी (speech), उचित व्यवहार (conduct), उचित जीविका (livelihood), उचित प्रयत्न (endeavour), उचित ध्यानशीलता (mindfulness) तथा उचित संकेन्द्रण (concentration), यह आठ अज्ञान को हटाकर, इच्छांओं को हटाकर मन को शांत तथा स्थित करते है जिस से दुर्गति तथा दुख समाप्त होता है, पुर्नजन्म नही होता है और इसी अवस्था को निर्वाण कहते है। बौद्ध मत 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' के बारे में मौन है। एक वृक्ष के बीज से जैसे दूसरा वृक्ष बनता है (और पहिला मुरझा के मरता है) उसी तरह पृथ्वी पर सृष्टि का क्रम चलता है।

प्राण एव आत्मा – इति केचित श्रुत्यन्तविद:।

प्राण ही आत्मा है - कुछ श्रुतियों के जानने वाले कहते है।

श्रुति को जानते तथा मानने वाले को 'वेदान्ती' कहते है। कुछ वेदोन्ती प्र
को ही आत्मा मानते है।

**असदेव इदमासीत – इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थित
माध्यमिका अपि एवमेव।**

**यह जगत (सृष्टि होने से पहिले) था ही नही। ऐसा अभाव ब्रह्म व
कहते है और वह पूरी तरह से शून्य भूमि में ही स्थित है।**

माध्यमिक मत वाले भी ऐसा ही कहते है।
'अभाव' का अंथ है 'न होना'। 'यहां कोई सांप नही है' हमे सांप के न ह
की बात बताता है (non-existence)। अभाव ब्रह्म वादी – वह जो ब्रह्म
अभाव को मानता हो अर्थात 'नास्तिक'। उनके लिये तो पहिले कुछ नही
अंथात शून्य था। अतः वह शून्य भूमि पर ही स्थित है।
माध्यमिक मत (nihilism) भी शून्य वाद ही है। उनके अनुसार भी यह ज
मिथ्या (शून्य) है। सारे मानसिक (mental & non-mental) घटना ब
(phenomenon) भ्रामक (Illusory) है।

1. 'अभाव' के बारे में देखिये "वैशाशिख – सूत्र"।

**परा प्रकृतिः भगवान वासुदेवः तद्विस्फुलिङ्गप्राया एव जीवाः
इति पाञ्चरात्राः परस्या प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात अव्यक्ते ए
अभिनिविष्टाः।**

**परा प्रकृति ही भगवान वासुदेव (का रूप) है। और सभी जीव उ
अग्नि की मानो चिंगारिया है। इस प्रकार पञ्चरात्रमत का निश्चय है
वे आत्मा (जीवात्मा) को पराप्रकृति का परिणाम मानते है और अव्य
(प्रकृति) पर ही ठहरते है।**

पञ्चरात्र मत, वैष्णाव मत को कहते है। उन के अनुसार प्रकृति ही इस जग
का कारण है और प्रकृति और भगवान वासुदेव वास्तव में एक (identica
है। सारे जीव उसी भगवान के अंश है।

संख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिम् अवलम्बन्ते।

सांख्यादि दर्शनों के मानने वाले विज्ञानाकला अवस्था तक ही मानते है (अर्थात उसे ही आत्मा मानते है)

ऋषि कपिल का दिया दर्शन –सांख्य दर्शन' है। यह दो चीजों पुरुष तथा प्रकृति को 'सत्' मानते है। पुरुष चैतन्यरूप है और आत्मा (self) शरीर, इन्द्रियो और मन से अलग है। सांख्य वाद में प्रभु (God) की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रकृति ही विश्व को बनाने का कारण है।
सांख्य और ऐसे ही दूसरे दशन 'विज्ञानाकला' अवस्था को ही आत्मा मानते है। उसी पांचवी भूमि को प्राप्त करने को ही वह स्वात्म लाभ कहते है। माया तत्व से ऊपर और शुद्ध विद्या से नीचे जो यह अवस्था है यह तो ज्ञान भूमि है परन्तु कर्त्ता भाव रहित है।

सदेव इदमग्र आसीत – इति ईश्वरतत्व पदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः।

यह जगत अनादिकाल से सत्‌रूप है– ऐसा कुछ और वेदान्तियो का मत है। जो ईश्वर तत्व के अश्रित होकर ठहरे हुये है।

श्रुति (वेद) को जानने वाले कुछ वेदान्तियों का मानना है कि यह जगत हमेशा स्थित था, और ऐसे जीव ईश्वर (तत्व) पद पर पहुचे हैं।

शब्द ब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपम आत्मतत्वम् – इति वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः। एवमन्यदपि अनुमन्तव्यम। एतच्च आगमेषु

'बद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः।।'

इत्यादिना निरूपितम।

आत्मा का स्वरूप शब्दब्रह्ममय (अहं रूप) और पश्यन्ती वाणी रूप है ऐसा वैयाकरण मत (Grammarians) का सिद्धान्त है। वे सदाशि तत्व पर स्थित है। ऐसा ही दूसरे मतो के विषय में भी अनुभव कर लेन चाहिये। आगम शास्त्रों (तन्त्रों) में भी यही कहा है:

बौद्ध मत वाले बुद्धि तत्व पर, आर्हत मत (जैनी) गुणों पर, वे को जानने वाले पुरुष तत्व पर और पाञ्चरात्रिक मत वाले प्रकृति त पर अपनी अपनी स्थिति रखते है। यह दूसरे श्लोकों में बताया गया है

आत्मा का स्वरूप क्या है। इसी का अलग भिन्न भिन्न अल्ण मतों में निरूप किया गया है। वैयाकरण मत वाले आत्मा को शब्द ब्रह्म रूप अर्थात, पश्यन् वाणी रूप मानते है। बौद्ध मत वाले आत्मा को बुद्धि रूप, जैन मत वाले गु रूप, वेदान्ती पुरुष तत्व रूप और पाञ्चरात्रिक प्रकृति तत्व रूप मानते है इसी तरह दूसरे मत वाले भी अपनी तरह से कहते है।

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्वम् – इति तान्त्रिकाः।
विश्वमयम् – इति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः।
विश्वोतीर्णं विश्वमयं च – इति त्रिकादि दर्शनविदः।

आत्मा 'विश्वात्तीर्ण' है। यह तांत्रिक मत वाले मानते है। आत्मा 'विश्वम है – ऐसा कुलमत (कौल आदि) मानने वालों का सिद्धान्त है। आत्म विश्वोतीर्ण और विश्वमय (दोनों) है – यह त्रिक दर्शन आदि के मान वालों का सिद्धान्त है।

तांत्रिक कहते है कि आत्मा विश्वोर्तीण (Transcedent) है। अर्थात हमें ज विश्व दिखता है और जिसका हम खयाल कर सकते है उस सब से परे। कु मत वादी मानते है कि आत्मा विश्वमय (immanent) है। अर्थात यह सा विश्व उसी आत्मा का स्वरूप है। परन्तु त्रिक शास्त्र (शैव दर्शन) के मान वाले मानने है कि आत्मा विश्वोर्त्तीण भी है और विश्वमय भी।[1]

1. विश्वात्मिकां तदुत्तींणां हृदयं परमेशितुः
   परादि शक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविद नुमः।। पराप्रावेशिका

एवम् एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः र्सवा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्य – प्रच्छादनोन्मीलनतारतम्य–भेदिताः, अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा। मितद्रष्टयस्तु अशांशिकासु तदिच्छयैव अभिमानं ग्राहिताः, येन देहादिषु भूमिषु पूर्वपूर्व प्रमातृव्याप्तिसारता प्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्तिं परशक्तिपातं बिना न लभन्ते। यथोक्तम

'वैष्णवाद्यास्तु ये केचिद्विद्यारागेण रञ्जताः।
न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम।।'

इति तथा
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।।
इति।

'त आत्मोपासकाः शैवं न गच्छन्ति परं पदम।।'

इति च।

इस प्रकार यह सब अवस्थाये (अंथात ऊपर कहे गये सारे मत) उस एक ही चितरूप भगवान के ही है जिन्हे वह अपनी स्वतंन्त्रता (भाव) से प्रकट करता है। और जो उसकी स्वतन्त्रता के छिपाने (न प्रकट करने) और प्रकट होने के क्रम के अनुसार भिन्न भिन्न है (कही स्वातंन्त्र्य अधिक मात्रा में प्रकट है और कही कम)। परन्तु इन सभी (मतों में, स्थितियो में) एक ही आत्मा (स्वात्म स्वरूप शिव) ही व्यापक है। संकुचित द्रष्टि वाले (अज्ञानी) उसी की इच्छा से उसके छोटे छोटे आंशो पर अभिमान धारण करते हैं, जिस कारण वे शरीर आदि भूमिकाओं में जहां इनसे ऊपर वाली (पुरानी) प्रमाता भाव की व्याप्ति का सार यद्यपि प्रकट भी है, वे उस बताये हुए स्वरूप वाली महा व्याप्ति को ईश्वर अनुग्रह (शक्ति पात) के बिना प्राप्त नही कर सकते जैसे कहा गया है:

वैष्णवादि मतों के कुछ अनुयायी जो विद्या तत्व और राग तत्व में रंगे हुये है, वे (संकुचित ज्ञानी) परम देव, र्सवज्ञ और ज्ञान शालिन आत्मा को नही जान पाते।।

ऐसे ही उन मूर्खों को जो मोक्ष की कांक्षा रखते है उन्हे माया शक्ति संसार में भ्रमित करती है।
और वे (संकुचित ज्ञानी) यद्यपि आत्मा के उपासक भी हैं वे शिव के परम के प्राप्त नही कर पाते है।।

सारे दर्शन तो उसी परम अवस्था को प्राप्त करने की बात करते है जिसे कहते है। ऊपर हम ने देखा कि जीव जिस अवस्था तक अपने को लेजा सकता है उसी अवस्था के अनुरूप उसका ज्ञान और अनुभव होता जैसे बौद्ध तथा मीमांसिक केवल बुद्धि तत्व पर ही स्थित है, वैष्णवजन प्र तत्व तक ही जा सकते है और वैयाकरण वाले सदाशिव तत्व पर स्थित अर्थात यह जीव पूरे ज्ञानी नही है क्योंकि उन्हों ने 'शिव' अवस्था प्राप्त की है। आत्मा तो मूलतः एक ही है परन्तु स्वेच्छा से 'शिव' अपनी शक्तियों संकुचित करके भिन्न भिन्न अवस्थायें प्राप्त करता है और हर किसी अवस्थ उसे अपने असली स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। यहां तक कि जब तक जीव 'शिव' अवस्था को प्राप्त नहीं करता तब तक उसे परमसत्य का ज्ञ नही होता है। और जब तक 'जीव' को इस सत्य का अनुभव न हो कि वस्ततु: शिव ही है तब तक उसे परम पद की प्राप्ति नही होती है।

अपि च 'सर्वेषां दर्शनानां' – समस्तानां नीलसुखादि–ज्ञाना या: 'स्थितय:' – अर्न्तमुख रूपाविश्रान्तय: ता: 'तद्भूमिका: चिदानन्द – घनस्वात्मस्वरूपाभिव्यक्तयुपाया:। तथा हि य यदा बहिर्मुखंरूपं स्वरूपे विश्राम्यति, तदा तदा वाह्यवस्तुपसंह अन्त प्रशान्तपदाव – स्थिति: तत्तदुदेष्यत्संवित्संतत्यासूत्रण – इति सृष्टि – स्थिति – संहारमेलनारूपा इयं तुरी संविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्टयादिभेदान उद्वमन्ती संहरन्ती च, स पूर्णा च, कृशा च, उभय रूपा च, अनुभयात्मा च, अक्रमम स्फुरन्ती स्थिता। उक्तं च श्रीप्रतिभिज्ञाटीकायाम्

'तावदर्थावलेहेन उत्तिष्ठति, पूर्णा च भवति'

इति। एशा च भट्टारिका क्रम्रात्क्रमम् अधिकमनुशील्य–मा स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम्।।८।।

और भी - 'र्सेवषां दर्शनानां' (का अर्थ है) सभी नील आदि या सुख आदि ज्ञानों की जो - स्थितयः (का अर्थ है) - अर्न्तमुख रूप विश्रान्तियां है, वे सभी - तद्भूमिका (का अर्थ है) - उसी चिदानन्दघन (अपने स्वरूप) को जानने के ही उपाय है। वह इस प्रकार से है। जब जब मनुष्य किसी बर्हिमुख ज्ञान को अपने (अर्न्तमुख) स्वरूप में ठहराता है तब तब बाहिर के सभी विधों का संहार होता है और अन्दर शान्त पद पर ठहरने वाली स्थिति बन जाती है (और संवित में ही शान्त पद की स्थिति हो जाती है), और भिन्न भिन्न उदय करने वाले ज्ञानों की संततियों का विस्तार हो जाता है। इस प्राकर यह चिति (संवित) तुरीय रूप, सृष्टि, स्थिति और संहार के मेल रूप है। यही तुरीय रूप संवित भट्टारक सृष्टि आदि के भेदों से (इस जगत को) वमन करती है और संहार भी करती है। (वह) सदा परिर्पूण भी है, क्षीण भी है, दोनों रूपों वाली (पूॅण भी और क्षीण भी) है, (इन) दोनों रूपों वालों नही है और क्रम रहित ही स्फार में आती है।

जैसे श्री प्रत्यभिज्ञा की टीका में कहा है :-

बहिर पदार्थों को चाटने (ग्रास, अपने में लय करने) से वह (संवित) उत्पन्न होती है और पूॅण भी होती है। इसी कल्याण मयी संवित शक्ति का जितना क्रम से अभ्यास किया जाये उतना ही भक्त जनों को आत्ममय (स्वात्म सात) बनाती है।

इसी (आठवें) सूत्र का दूसरे प्रकार का अर्थ यहां किया गया है। कहते है कि नील आदि जो बहिष्करणों से जाने जाते है और सुख दुःख आदि जो अन्तःकरणों से जाने जाते है यह सब ज्ञान जब अर्न्तमुख होकर संवित पर विश्राति पाते है तो वे सभी स्वात्म स्वरूप को जानने और प्रकट करने के उपाय[1] बनते है। अर्थात जब सारा बाह्यरूप (विश्व) अर्न्तमुख हो जाता है तो स्वात्म स्वरूप को जाना जाता है। वह इस प्रकार से है। सारे बहिर पर्दाथों (बर्हिमुख ज्ञान नील आदि, सुख आदि) को अर्न्तमुख करके संहार करना है (all the external objects & formation are to be withdrawn and one has to rest in the inner state)। जब इस शांत पद में स्थिति होती है तो भिन्न भिन्न ज्ञान की संततियों का विस्तार होता है (जिस से संवित शक्ति प्रकट होती है)। यही संवित शक्ति तुरीय[2] रूप है जो सृष्टि, स्थिति और संहार का मेल रूप है (अर्थात इन तीनों के मेल से बनती (characterise) है)

अर्थात सृष्टि में सृष्टि, स्थिति तथा संहार; स्थिति में सृष्टि स्थिति और संहार एवं संहार में सृष्टि स्थिति और संहार करती है। वह इन भेदों सृष्टियों और संहारों का वमन[3] करती है। सृष्टि अर्थात अपने स्वरूप में से बाहिर निकालती है और फिर संहार अर्थात अपने स्वरूप में ही लय करती है। यह संवित पूर्ण अर्थात स्थूल रूप है, क्षीण अर्थात सूक्ष्म है, दोनों स्थूल और सूक्ष्म है और न स्थूल है और न सूक्ष्म है (उन सब से अत्तीर्ण है)।

अर्थात अपने स्वात्म स्वरूप को जानने का उपाय, संवित का अनुभव करना है। यह सब अभ्यास से होता है और जितना इसका अभ्यास किया जाये उतना ही साधक आत्ममय होगा। क्रम क्रम से अभ्यास करना है – बहिर पर्दार्थों को अर्न्तमुख होकर संहार करना है तब संवित उल्लास में आ जाती है और परम पद की प्राप्ति होती है।[4]

1. शैव शास्त्र की यह अनुपम देन है कि बर्हिपर्दाथ और अन्तःर्कणें के पदार्थ जिन्हे दूसरे शास्त्र बन्धक का कारण मानते है, यहां स्वात्म स्वरूप को जानने के उपाय है।
2. चौथी अवस्था : जागृत स्वप्न, सुषप्ति, तुरीय
3. संवित सृष्टि करती है। जगत में स्त्रियां सृष्टि 'योनि' से करती है परन्तु सवितं शक्ति मुंह से 'वमन' रूप करती है।

नोट :

यहां पर जो अर्थ दिया गया है वह बहुत विशेष है क्योकि यहां पर सत्य को जानने का उपाय दिया गया है। बहिर इन्द्रियों से जो हम जानते वह नील पील आदि है। अन्तःकरणो से सुख दुख का अनुभव होता है। इ सब अनुभवों (experiences) को (inner conciousness) (अन्तर चेतना में विश्रान्ति (rest) करना है। इसी को अर्न्तमुखी होना कहते है। अर्न्तमुखी का अर्थ अन्दर की तरफ देखना नही है, अपितु सारे बहिर जगत को अपना स्वरूप जान कर अपने ही स्वरूप में लय करना है, अर्थात इन सब (experienced) को चिद–आनन्द से भरे हुये स्वात्मस्वरूप का ही स्फार (manifestation) जान लेना है – जैसे एक नट बहुत सी भूमिकायों करता है, परन्तु नट एक ही रहता है– ऐसे ही इस सब प्रपञ्च को स्वात्मस्वरूप शिव की ही भूमिकायें जान लेना (experience करना), यही परम सत्य (ultimate reality) को जानने का उपाय है।

जब उपासक सारे बहिर वेद्यों को अपना ही स्वरूप जानता है त अर्न्तमुख अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में उसे परम शांति मिलती

अतः इसे शांत पद कहा गया है। यहां (experiencer) अनुभव करने वाला, (experience) अनुभव और (experienced) अनुभव किया हुआ में कोई भेद नही रहता है। इसी अवस्था में संवित शक्ति का प्रवाह होता है: (अंथात भिन्न भिन्न ज्ञानों की संततियो का उदय होता है), (There are rising streams of out flowing conciousness.)

यह संवित शक्ति (जो ऊपर कहे गये क्रम से उदय को आती हैं) सृष्टि, स्थिति और संहार का मेल रूप है। यही 'संवित' अपने स्वरूप में से ही निकाल कर इस विश्व को बाहिर प्रकट करती है जिसे वमन (vomit) कहा गया है। और फिर अपने स्वरूप में विश्राति करती है अंथात संहार करती है, जिसे अवलेहन, ग्रास करना या चाटना (absorption) कहा है। इसी संवित शक्ति का अभ्यास करना है – सारे बहिर जगत को अपना स्वरूप जानकर अपने में ही स्थित करना है – इस क्रम से भक्तजन अपने वास्तविक (स्वात्म) स्वरूप को जान लेता है।

यदि एवं भूतस्य आत्मनो विभूतिः, तत् कथम् अयं मलावृतः अणुः कलादिवलितः संसारी अभिधीयते? – इत्याह

यदि (ऐसे) आत्मा का ऐसा ऐर्श्वय है, तो यह कैसे मलों से ढका हुआ और कला आदि शक्तियों से लिप्त, संकुचित संसारी (जीव) कहलाता (बनता) है। इस प्रश्न का समाधान अगले सूत्र में करते है।

यहां पर यह प्रश्न करते हैं कि आत्मा, जिसका ऊपर विवरण दिया गया है, जो ऐर्श्वयवान है, वह संकुचित जीवभाव (limited experient) में कैसे आता है, जहां पर पांच कंचुकों तथा तीन मलो से आवृत होने के कारण इसकी शक्तियां संकुचित होती है, और इसे संसार में आना जाना पडता है। इस प्रश्न का समाधान अगले (9th) सूत्र में करते है।

चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृत: संसारी ।।९।।

चित (अर्थात चिदात्मा, परमेश्वर) अपनी शक्तियों के संकुचित होने पर और (तीन) मलों से युक्त होकर (लिप्त या आवृत होने से) संसारी बनता है।

इस सूत्र में अब यह बताया जा रहा है कि जीव भाव कैसे बनता है। सूत्र 5 में हमने देखा कि चिति के संकोच में आने से 'मन' बनता है। जो कि संसार का आधार बनता है। यहां इसी बात को विस्तार में बताकर दो बाते कही जा रही है। परमशिव, चित शक्ति (divine conciousness) अपने को दो प्रकार से संकुचित करती है। एक तो वह अपनी शक्तियों को संकुचित करती है और दूसरा वह अपने आप को तीन मलों से ढक लेती है। यह दोनों काम एक साथ (simultanously) होते है और इस कारण वह परम शिव इस जीव भाव को प्राप्त होता है।

यह सूत्र इस लिये विशेष है क्योकि यह हमें बताता है कि 'जीव भाव' कैसे बन जाता है। अगर हम वस्तुतः शिव हैं तो उस ऊंचे स्थान से हम क्योंकर नीचे आगये। कई जिज्ञासु यह प्रश्न करते है कि शिव ऐसा क्योंकर करते है परन्तु यह प्रश्न जरूरी नही है कि शिव ने यह क्यों किया। क्योंकि इस से हमारे प्रश्नों का निवारण नही होगा। परन्तु जब हम यह जानेंगे कि हम संसारी कैसे बने तो हम इस संसार से मुक्त होकर (जिन कारणों से संसारी बने है, उन कारणों को हटा कर) शिव भाव को प्राप्त होगें। तब इस प्रश्न का उत्तर भी मिलेगा कि शिव, जीव भाव क्यों ग्रहण करते है।

यहां इस सूत्र हमें हम यह बताया गया है कि चिदात्मा परमेश्वर एक तो अपनी शक्तियों को संकुचित करके और दूसरा अपने को तीन मलों से आवृत कर के संसारी (जीव) बनता है। अतः जीव तीन मलों को हटा कर और अपनी शक्तियों को पुनः पाकर शिव अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

यदा 'चिदात्मा' परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा 'तदीया इच्छादिशक्तियः' असंकुचिता अपि संकोचवत्यो भान्ति; तदानीमेव च अयं 'मलावृतः संसारी भवति।

जब चैतन्य स्वरूप परमेश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से अपनी अभेद की व्याप्ति को छिपा कर (दबा कर) भेद की व्याप्ति को प्राप्त (ग्रहण) करता है, तो उस की इच्छा आदि शक्तिया अंसकुचित होने पर भी संकोचयुक्त दिखाई देती है और तब वह (परमेश्वर) मलों से युक्त संसारी (जीव) बनता है।

चैतन्य स्वरूप परमेश्वर सर्वशक्तिमान है (He is embodiment of conciousness) और प्रकाशमान तथा विमर्शमय है। अर्थात वह जानते है कि हर कोई वस्तु सारा विश्व) उनका ही स्फार है। इसी को अभेद की व्याप्ति कहा है। अर्थात कोई भी वस्तु शिव से भिन्न नही है। जब शिव 'जीव' भाव को प्राप्त होते है तो वह अपनी ही स्वातंत्र्य शक्ति से अपनी शक्तियों को संकुचित (limited) कर लेता है। इस अवस्था में एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न लगती है। इसी को भेद (भेद की व्याप्ति) कहते है। जीव के लिये सारा विश्व भेदमय है, जब कि वस्तुतः यह सारा विश्व परम शिव से अभेद है।

देखिये : एको दृष्टाऽसि र्सवस्य मुक्तप्रायोऽसि र्सवदा।
अयमेव हि ते बन्धो दृष्टारं पश्यसीतरम।।

अष्टा वक्रगीता (1–७)

हे मनुष्य। तू एक सब का दृष्टा है, और र्सवदा मुक्त स्वरूप है। तेरा बन्धन तो यही है कि तू अपने को छोडकर दूसरे को दृष्टा देखता है। यही तुझ में बन्धन है।

तथा च अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णमन्यतारूपम आणवं मलम्, ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेद सर्वज्ञत्वस्य किचिज़्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरण बुद्धीन्द्रियतापत्ति पूर्वम अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथा रूपं मायीयं मलम्; क्रियाशक्ति क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कमेन्द्रियरूप संकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमितता प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्म भलम्।

वह इस प्रकार कि, इसकी इच्छा शक्ति जो असीम और अखण्डित स्वरूप वाली है, अथात स्वातंत्र्य रूप है, वह संकुचित (परिमित) हो जाती है। जिस से वह अपने आप को अपूर्ण मानने लगता है। यही आणव मल है।। (साथ ही) इस की ज्ञान शक्ति क्रम से संकोच के कारण भेदमय हो जाती है (अर्थात, इस शिव में) जो र्सवज्ञता थी वह अब थोडा सा जानने (के भाव) (limited knowledge) में बदल जाती है और अन्तःकरण एवं बुद्धिइन्द्रिय (ज्ञान इन्द्रिय) में (involve) होकर अत्यंत

संकोच ग्रहण करने के कारण विद्यों में प्रकट हो जाती है, यही मायी
नल है।। (फिर) क्रिया शक्ति (भी) क्रम से भेदमय हो जाती है और
उस (शिव) में सर्वकर्तृत्व (भाव) था वह थोडा सा करने की शक्ति
बदल जाता है और कर्मइन्द्रियो के रूप में संकोच ग्रहण करने से बहु
ही सीमित (जीव) बन कर अच्छे और बुरे कर्म करने वाला बनता है
यही कार्म मल है।।

ऊपर कहा गया कि शिव अपनी शक्तियों को अपनी ही स्वातंत्र्य शक्ति संकुचित करता है और जीव भाव को प्राप्त होता है। यहां दो बातें होती है। एक तो शक्तियां संकुचित लगती है और दूसरी वह (शिव) अपने को तीन म से ढक लेता है। यह दोनों एक साथ (Simultaneously) हो जाते है।

तीन मल, आणव मल, मायीय मल और कार्म मल है। मल का अ आमतौर पर (impurity) है परन्तु यहां पर इस का अंथ आवर्ण है परमशिव (divine conciousness) को ढक लेते है (obscures), ऐसे जैसे बादल सूंय को ढक लेते है। जब बादल होते है तो हमे लगता है सूंय है ही नही, जबकि वास्तव में सूंय तो अपनी जगह ही होता है। इसी त तीन मलों से ढकने के कारण शिव 'जीव' भाव में आता है जीव भाव में वह शिव लगता नही है। परन्तु वास्तव में वह तो शिव ही है।

परम शिव की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया रूपी तीन शक्तियां है। जीव भाव में य तीनो शक्तियां परिमित हो जाती है।

शिव स्वतन्त्र है। वह जानते है कि वह सारा विश्व उन से भिन्न नही है। (H has unlimited power of sovereign will) परन्तु जीव भाव में वह अप आप को अपूंण मान लेता है। इसी अपूंणता के मानने को आणव मल कह है।

शिव संवज्ञ (omniscient) है। परन्तु जीव अवस्था में शिव की सर्वज्ञ संकुचित (limited) हो जाती है। जब तक संवज्ञता थी तब तक सारा वि अभेद था अर्थात शिव को सारा विश्व अपना ही स्वरूप है, यह ज्ञान है। पर जीव अवस्था में ज्ञान शक्ति के संकुचित[2] होने से भेद (duality) उत्पन्न जाता है। इस का कारण जीव, अन्तः कर्ण में जो ज्ञान इन्द्रियो के रूप (बुद्धि, अहंकार और मन), उन में फस (involve) हो जाता है। जिस से सा विद्य वर्ग अपने से भिन्न दिखता है। यही मायीय मल है।

शिव सर्व कर्ता है, उन में अपरिमित क्रिया शक्ति है। परन्तु जीव भाव में आकर यह क्रिया शक्ति परिमित[3] होजाती है। सर्वकर्ता भाव की जगह इसे थोडा से करने की शक्ति इन्द्रियो के द्वारा रह जाती है और यह (आत्म) अत्यन्त परिमित जीव बन कर अच्छे और बुरे र्कम करने वाला बनता है। इसी को कार्म मल कहते है।

अतः जीव अवस्था की तीन विशेषताये है। पहिला अर्पूणता का भाव (illusion) होता है, दूसरा सारी शक्तियों का असंकुचित होने के बदले संकुचित होना तथा तीसरा कर्म करना। यही तीन उसे संसार में फंसाये रखते है। अब तो यह विदित है कि इन तीन मलो को दूर करने से ही मुक्ति मिल सकती है। इस संर्दम में देखिये:

तदभावात संयोग भावो हानं तदद्दशे कैवल्यम।। योगसूत्र ।। 25

जब अविद्या (ignorance), अर्थात यह तीन मल दूर हो जाते है तो आत्मा (स्वात्म स्वरूप) के साथ एक हो जाती है और बन्धन (bondages) के कट जाने से "जीव" मुक्त हो जाता है।

1) अपूर्ण र्अथात देह अभिमानी। 'जीव' इस देह को ही 'मै' समझता है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है।

2) ज्ञान शक्ति भी संकोच के कारण भेदमय होजाती है। ज्ञान का परिमित होने का र्अथ है कि ज्ञान, ज्ञान इन्द्रियो के ज्ञान तक ही परिमित होजाता है।

3) क्रिया शक्ति के बल से यह 'आत्मा' सर्वकर्ता है। यह शक्ति जब संकोच में आती है तो 'जीव' र्कम इन्द्रियो के द्वारा ही कुछ थोडे सा करने की शक्ति रखता है।

तथा सर्व – कर्तृत्व सर्वज्ञत्व – पूर्णत्व–नित्यत्व–व्यापकत्व शक्तय: संकोच गृह्वाना यथाक्रमं कला – विद्या – राग – काल – नियतिरूपतया भान्ति। तथा विधश्च अयं शक्तिदरिद्र: संसारी उच्यते; स्वशक्ति विकासे तु शिव एव।।९।।

और (इस 'शिव' की पांच असीम शक्तियां) सब कुछ करने की शक्ति, सब कुछ जानने की शक्ति, पूर्ण होना, नित्यता तथा सर्वव्यापक होना, संकोच ग्रहण करने के कारण क्रम से कला, विद्या, राग, काल तथा नियति (तत्व)' के रूप से दिखायी देती है (परिवर्तित हो जाती है)। इस प्रकार यह शक्ति हीन होकर संसारी कहलाता है। जब उस की शक्तियां

विकसित होकर फिर से अपने पहले (original) रूप को प्राप्त होती तो पुनः 'शिव' ही बनता है।

'शिव' सर्वशक्तिमान (omnipotent and all powerful) है। वह सब कु कर सकते है। अतः शिव "सर्वकर्तृत्व" भाव वाले है। वह ज्ञान रूप है। वह कुछ जानते है अतः र्सवज्ञ (omniscient) है। वह पूर्ण है (full, comple and perfect) वही सब कुछ है और सब कुछ वही है। कोई वस्तु ऐसी जो उनकी अपनी नही है, शिव नित्य है। वह सर्वदा थे, र्सवदा है और रहें (he is perpetual, eternal and exists always) । वह समय (काल) बन्धनो से परे है। वह सर्वव्यापक है (he is all prevading a omnipresent)। यह पांच (powers) शिव की पांच मुख्य शक्तियां – चि आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया हैं।

जीव (जो वस्तुतः शिव ही है, जिस ने अपनी इच्छा से जीव भा ारण किया है) में यही पांच शक्तियां संकुचित अर्थात परिमित (limited) में होती है। संकुचित रूप में सर्वकर्तृत्व भाव कला तत्व रूपी हो जाता कला तत्व का अर्थ है "किचिंकर्तृता हेतुः", थोडा सा ही करने की क्षमता create within limited possiblities)। जीव का ज्ञान सीमित है। शिव सर्वज्ञता, थोडा सा ही जानने में बदल जाता है जिसे (विद्यातत्व) कहते शिव के लिये हर कोई वस्तु अपनी (शिव ही) है। जीव के लिए यह मेरा यह मेरा नही है अर्थात "पूर्णता" के बदले राग तत्व बन जाता है। शिव 'नित्य' है परन्तु जीव भूत, वर्तमान तथा भविष्य के चक्र में फंसा है। यही क तत्व है।। शिव नीति से बन्धे नही है, परन्तु जीव नीति से बन्धा है। उस लिए कुछ कर्म अच्छे है (क्योकि उसे लगता है कि एसे कर्म करने का फ अच्छा होगा, अर्थात उसे स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है। एवं कुछ कर्म बुरे (क्योकि उनके फल अच्छे नही होगे)। इसी को 'नियति' तत्व कहते है। और जब 'शिव' अपनी स्वेच्छा से अपनी शक्तियों को परिमित करके ज अवस्था को प्राप्त होता है तो वह शक्ति हीन होता है। इसी शक्ति हीन संसारी कहते है। यहां पर एक बहुत ज़रूरी बात कही गई है कि जीव अप इन रवोई हुई शक्तियों को फिर से पा कर, फिर से विकसित करके अप पहली (original) अवस्था अर्थात 'शिव' अवस्था को प्राप्त कर सकता है

देखिये 'परा प्रावेशिका'

नु संसार्यवस्थायाम अस्य किंचित शिवतोचितम् अभिज्ञानमस्ति
न शिव एवं तथावस्थित:? इत्युद्धोष्यते। अस्ति। इत्याह

या संसारी (जीव) अवस्था में (इस जीव को) शिव के योग्य जो लक्षण (शिव के जैसा कोई लक्षण क्या) इस जीव में हैं ? जिस से यह समझ के कि यह शिव ही इस (जीव) अवस्था में है। उत्र में ढंके की चोट र कहा जाता है कि ऐसा ही है। उसी को बताने के लिये अगला सूत्र हा है।

हां यह शंका उत्पन्न होती है कि अगर जीव वास्तव में शिव ही है तो उस कुछ ऐसे लक्षण होने चाहिये जो इस बात का प्रमाण दें कि वह 'शिव' ही यही दिखाने के लिये कि जीव वस्तुतः शिव ही है और जीव वही कुछ रिमित रूप में करता है जो शिव करते है, अगला सूत्र कहा गया है।

तथापि तद्वत पञ्चकृत्यानि करोति।। १०।।

फिर भी (जीव भाव को प्राप्त हुआ भी) उसी (शिव) की तरह पांच कर्म करता है।

ऊपर कहा गया कि शिव अपनी शक्तियों को संकुचित करके जीव वस्था प्राप्त करता है। शिव पञ्चकृतिकारक है अथात वह पांच कर्म (five ivine functions) सृष्टि, स्थिति, संहार, पिदान तथा अनुग्रह – करता है। ार जीव भाव में आकर उस शिव की शक्तियां यदिपि बहुत ही संकुचित हो ाती है फिर भी वह (जीव) यह पांच र्कम (परन्तु बहुत परिमित तरीके से) रता है।

यहां पर यह कहना युक्ति संगत है कि जीव शिव का एक संकुचित रूप है जिसमें छिपा हुआ (potential) वह सब मोजूद है जो परम शिव में है। इसी कारण इन परिमित (latent and limited) शक्तियों को विकसित expand) करके वह फिर से शिव अवस्था को प्राप्त हा सकता है।

इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्यः अयमेव विशेषः, यत्

'सृष्टि संहार कर्तारं विलयस्थिति कारकम्।
अनुग्रह करं देवं प्रणतार्ति विनाशनम।।'

इस ईश्वर अद्वय दर्शन (1) अर्थात त्रिक (शैव) मत का ब्रहमवादियों
यही विशेषता है कि (शिव) सृष्टि और संहार करने वाले, विलय और
स्थिति करने वाले है। तथा अनुग्रह करने वाले है। उस, शरण आये
भक्तों के आर्त भाव को दूर करने वाले (शिव) को (मैं) प्रणाम करता

यहां त्रिक मत (अथात शैव मत) का ब्रहमवादियों (वेदान्तियों)
भिन्नता दिखाई गई है। शैव मत में शिव को पंच कृत्यों का कर्तृत्व भाव स
रहता है। भक्तों पर अनुग्रह करके उन को परमार्थ दिखाते हैं। इसी को अ
भाव को दूर करना कहते है।

1) ईश्वर अद्वय देशन – monistic school of Saivism

इति श्रीमत्स्वच्छन्दादि शासनोक्तिनीत्या सदा पञ्चविध
कृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः। यथा च भगवान शुद्वेतरा
ध्वस्फारण क्रमेण स्वरूप विकासरूपाणि सृष्टयादीनि करो
तथा संकुचित चिच्छक्तितया संसार भूमिकायामपि 'पञ्चकृत्या
विधत्ते।

इस प्रकार श्री स्वच्छन्द आदि शास्त्रो में बताई हुई नीति के अनुस
चिदात्मा परमेश्वर सदा ही पांच कार्य करता रहता है। जिस त
भगवान शुद्ध अध्व (1) (और अशुद्ध अध्व) को स्फार में लाने के क्र
से अपने स्वरूप के विकास रूप से सृष्टि आदि करता है (२) उ
प्रकार (अपनी) चित्त शक्ति को संकुचित भाव में लाकर संस
भूमिकाओं में (अर्थात जीव भाव में) भी पंचकृत्य करता है।

जिस तरह परम शिव अपनी इच्छा से अपने ही स्वरूप का विकास करके
सारे विश्व (और इस में जो पर्दाथ है) की सृष्टि आदि करते है। अर्थात
पञ्चकृत्य करते है उसी तरह जब संकुचित भाव, जीव भाव में आते है
भी वह पंचकृत्य करते है।

(1) शुद्धविद्या से शिव तत्व तक पांच तत्वों को शुद्ध अध्व कहते है और माया से पृथ्वी तत्व तक तत्वों को अशुद्धअध्व कहते है।

(2) जब शिव अपने स्वरूप को विकास में लाकर शुद्धविद्या अवस्था से शिव अवस्था की ओर जाते है तो वह मन्त्र, मन्त्रेश्वर तथा मन्त्रमहेश्वर रूप अपने महात्म्य को क्रम से प्राप्त करता है। अतः वह प्रमात तथा प्रमेय से ऊपर उठते है और उसे विश्व की सृष्टि तथा संहार करने की क्षमता होती है।

देखिये भेद तिरस्कारे सर्गान्तरर्कमत्वम :शिव सूत्र – ३–३६

तथा हि

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहि।।'

जैसा कहा है

व्यवहार भाव में भी वही प्रभु (शिव) शरीर आदि में व्यापक बन कर अपने अन्दर ही स्थित पदार्थ समूह को (अपनी) इच्छानुसार बाहिर प्रकट करते है।

इसी बात को एक बार दुहराते हुये ग्रन्थकर्ता प्रत्यभिज्ञा के एक श्लोक के आधार पर कहते है कि जिस तरह शिव पचंकृत्य करते है, उसी तरह बर्हिमुख भाव में, जीव भाव में, जिसे व्यवहार भाव कहते है, आकर भी वह शिव इस सारे विश्व की सृष्टि करते है। सारे पदार्थ तो मूलतः शिव ही है अथार्त विश्व के सारे पदार्थ उनमें ही स्थित है और वह अपनी ही इच्छा से इन पदार्थों को बाहिर प्रकट करते है। सृष्टि करते है तथा संहार आदि करते है। अथात जो पंचकृत्य वह शिव भाव में करते है वही पंचकृत्य वह संकुचित जीव भाव में भी करते है।

सूत्र १० में कही हुई बात कि जीव भाव में भी जीव परिमित रूप में वही करते है जो शिव अवस्था में करते है, उसी तथ्य को यहां पर फिर से कहा गया है।

इति प्रतिभिज्ञाकारिकोर्क्तार्थदृष्टया देह प्राणादिपदम आविशन चिद्रूपो महेश्वरो बर्हिमुखी भावावसरे नीलादिकमर्थ नियतदेशकालादितया यदा आभासयति, तदा नियतदेश कालाद्याभासांशे अस्य सृष्टता; अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य

संर्हतृता; नीलाद्याभासांशे स्थापकता; भेदेन आभासां
विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता। यथा
सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं भगवत:, तथा मया वितत्य स्पन्दसंदो
र्निणीत्म।

इस प्रकार प्रतिभिज्ञाकारिका में कहे गये परर्माथ द्रृष्टि के अनुसार शरी
प्राण आदि पदों में आवेश करते हुये चित्तरूप महेश्वर बर्हिमुख होने (
अवसर) पर नील आदि पदार्थों के समूह को निश्चित देश काल आ
भाव से जब भासित करता है, तब निश्चित देश काल आदि में (पदा
को) भासित करने को सृष्टि (कहते है); अन्य देश काल में (इनको
आभास करने को संहार (कहते है); नील आदि (पर्दाथ समूह) को (कु
देरके लिये) आभासित करने को स्थिति (कहते है); (पर्दाथों में) भेद (क
आभास करने (के अंश पर) विलय करना और (पर्दाथों का) प्रकाश
एकता भाव का प्रकट करना अनुग्रह (भाव) है। जैसा कि सदा पां
प्रकार के र्कम करने वाला भाव भगवान का है वैसा मैं (क्षेमराज)
विस्तार से स्पंन्द संदोह (शास्त्र) में र्निणय किया है।

सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं भगवात:, तथा मया वितत्य स्प
संदोहे र्निणीत्म।

इस प्रकार प्रतिभिज्ञाकारिका में कहे गये परर्माथ द्रृष्टि के अनुसार शरी
प्राण आदि पदों में आवेश करते हुये चित्तरूप महेश्वर बर्हिमुख होने (
अवसर) पर नील आदि पदार्थों के समूह को निश्चित देश काल आ
भाव से जब भासित करता है, तब निश्चित देश काल आदि में (पदा
को) भासित करने को सृष्टि (कहते है); अन्य देश काल में (इनको
आभास करने को संहार (कहते है); नील आदि (पर्दाथ समूह) को (कु
देरके लिये) आभासित करने को स्थिति (कहते है); (पर्दाथों में) भेद (क
आभास करने (के अशष पर) विलय करना और (पर्दाथों का) प्रकाश
एकता भाव का प्रकट करना अनुग्रह (भाव) है। जैसा कि सदा पां
प्रकार के र्कम करने वाला भाव भगवान का है वैसा मैं (क्षेमराज)
विस्तार से स्पंन्द संदोह (शास्त्र) में र्निणय किया है।

स्वात्म स्वरूप शिव जब शरीर, प्राण आदि रूपों से (जीव भाव में आकर) बर्हिमुख होते है तो वह (बाहिर के पर्दाथ जैसे) नील आदि पदार्थों के समूहो और अन्दर के पदार्थ जैसे सुख दुख आदि को निश्चित देश और काल (specific time and space frame) में भासित करता है इसे ही सृष्टि कहते है। और अगर इन पदार्थों को किसी और देशकाल में भासित करते है (तो इस देश काल में वह रहते नही है) अथार्त इनका होता है। जब यह पदार्थ समुह किसी जगह, कुच्छ समय के लिये आभासित रहते है, तो वहां पर इनकी रिथति होती है। जब इन पर्दाथें में भेद प्रकट होता है; उसे विलय (concealment) कहते है। इस समय तक पदार्थ एक दूसरे से तथा शिव से भिन्न लगते है। यही पिदान है और जब सर्वस्व शिव रूप ही लगता है, उसे ही अनुग्रह कहते है। यही पञ्च कृत्य है, जो स्वात्म शिव हर समय करते है।

एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा द्रढप्रतिपत्त्या परिशीलयमानं माहेश्वर्यम उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम्। अत एव ये सदा एतत् परिशीलयन्ति, ते स्वरूप विकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता – इत्याम्नाताः। ये तु न तथा, ते सर्वतो विभिन्नं मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः।। १०।।

इस प्रकार यह पांच प्रकार काम करने वाले भाव को पक्के निश्चय के साथ सदा अभ्यास करते हैं उन भक्तजनों को महेश्वरदशा (शिव भाव) प्रकट होती है। इस कारण जो इस (पञ्चकृत्य) का सदा अभ्यास करते हैं वह इस सारे विश्व को अपने ही स्वरूप का विकास समझते है, उन्हे ही जीवनमुक्त कहते है। यह शास्त्रों का मत है। और जो ऐसा (अभ्यास) नही करते है वह सभी पर्दाथ समूह को अपने से भिन्न देखते है, इस कारण बद्धात्मानः अथार्त संसारी (जीव) कहलाते है।

वह भक्तजन जो इस पञ्चकृत्य को अपने जीवन में निश्चय के साथ अभ्यास करते है, वह समय के साथ (in due course of time) अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानते है कि मूलतः वह शिव ही है। वह फिर देखते है कि यह सारा विश्व उनके ही स्वरूप का (अर्थात शिव का) विकास है जो ऐसा जानते

है ऐसे ही जीवों को जीवनमुक्त[1] कहते है। और जो ऐसा नही जानते है, उन्हे सारे पर्दाथ समूह एक दूसरे से तथा अपने (शिव) से भिन्नलगते है। ऐस जीव संसार चक्र में बन्धे रहते है।

1. जीवन मुक्त उसे कहते है जो साधारण की तरह तो होता है परन्तु उसे इस परम सत्य का ज्ञान होता है कि वह वस्तुतः शिव ही है। यहां पर यह बताया गया है कि यह अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है। इस बात का अभ्यास करना है कि हम हर समय पञ्चकृत्य करते है। जब इस बात का अभ्यास होता है तो धीरे धीरे भेद मिट जाता है और सारे पदार्थ शिव रूप ही लगते है और अन्ततः यह सारा विश्व अपने आत्म स्वरूप का ही स्फार जाना जाता है।

न च अयमेव प्रकारः पञ्च विधकृत्यकारित्वे, यावत अन्योऽपि कश्चित, रहस्य रूपोऽस्ति।– इत्याह

इस पांच प्रकार के काम करने में यही एक प्रकार (तरीका) नही अपितु इस से भिन्न कोई दूसरा रहस्य रूप भी है। यही (अगले) सूत्र में कहा है।

अभी तक सृष्टि, स्थिति, संहार, पिदान तथा अनुग्रह – इन पांचों को ही शिव के पांच कर्म कहा गया जो जीव भाव में भी संकुचित रूप से जीव करता है। साथ ही यह कहा गया कि अगर इस पञ्वकृत्य का अभ्यास किया जाये तो मुक्ति मिलती है। अतः यह पांच कर्मो क्या है। इस बात को समझना बहुत आवश्यक है। इसी लिये पंचकृत्यों को अब एक और तरीके से बताया जा रहा है, ताकि मनुष्य इस बात का अभ्यास सरलता से कर सके और शिव भाव को प्राप्त हो सके।

आभासन–रक्ति–विमर्शन
बीजावस्थापन– विलापनतस्तानि।। ११ ।।

विधों का प्रकट करना, उन में रंग जाता, उन का विमर्श करना, उन विद्यों के संस्कार रूच बीज का अपने अन्दर ठहराना एवं उस को अपने चितस्वरूप में लीन करना, यह पांच काम कर्ता रहता है।

ऊपर 'शिव' के पांच कर्मों के बारे में कहा गया है -- सृष्टि, स्थिति संहार, पिदान तथा अनुग्रह। और जीव भी संकुचित रूप में इन कर्मों को करता रहता है। इसी बात को फिर से विस्तार से समझाया जा रहा है।

जीव भाव में भी वह सृष्टि करता है। इसे आभासन कहते हैं। जहां पर 'जीव' विद्यों को प्रकट करता है। 'आभासन' का अर्थ है किसी वस्तु का आभास होना जो वास्तव में है ही नहीं (Unreal in nature) किसी विद्य का प्रकट होना (manifestation) एक मानसिक प्रक्रिया है अतः मूलतः वह है ही नहीं। वास्तव में सर्वस्व तो 'शिव' ही है जो कभी अदलता नहीं है, परन्तु जो हम देखते है वह बदलता रहता है। विद्यों का 'आभामन' – प्रकट होना – एक दैविक प्रक्रिया ही है।

जिस भी विद्य को 'जीव' प्रकट करता है, उस के साथ राग, (प्रेम) हो जाता है। इसी को 'रक्ति' कहते है। यह स्थिति है। 'जीव' की चैतन्यता का किसी वस्तु के साथ 'राग' होना ही 'स्थिति' का कारण है क्योंकि किसी मानसिक प्रक्रिया (mental phenomen) की स्थिति (continued existence) तभी होती है जब चैतन्यता (conciousness) में उस की स्मृति रहती है। यह *'राग' ही ग्राह्य तथा ग्राहक को एक दूसरे से मिलाते है* और संसार में जो जीव को अनुभव (experience) होता है उस के कारण है।

अनुभव तभी होता है जब अभेद भाव, भेद में परिवर्तित होता है और ग्राह्य ग्राहक भाव बनता है, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय भिन्न भिन्न लगते है। यह सब विमर्शन से होता है। विर्मशन का अर्थ अनुभव करना भी कह सकते है। विमर्शन से ही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय एक हो जाते हैं। यही संहार है।

विद्याों को 'जीव' संस्कार रूपी बीज के रूप में अपने अन्तर में स्थित करता है। इसी को 'बीजावस्थापन' अथार्त बीज का बोना कहते है। जिस भी विध (पदार्थ समूह) का आभसन (सृष्टि) रक्ति (स्थिति) एवं विमर्शन (संहार) होता है, वह अन्दर संवित में संस्कार रूप से ठहरता है। और भविश्य में फिर से उत्पन्न होता है। यही कर्म बन्धों का कारण बनता है। अथार्त संसार में आने जाने का कारण। अतः इसी से 'वास्तविकता' का बोध नहीं होता है। यही पिदान है।

जब जीव पदार्थ समूह को अपने चित स्वरूप में लय कर लेता है, तो पता चलता है कि सर्स्व तो – 'आत्म स्वरूप शिव' का ही रूप है। यही

अनुग्रह है। इसे विलापन कहते है। 'विलापन' का अर्थ है लय करना। यह 'आभासन' का उल्टा है।

यही पांच कर्म 'जीव' भाव में होते रहते है।

'पञ्चविधकृत्यानि करोति' – इति पूर्वत: संबध्यते। श्रीमन्मर्हाथ–दृष्टया दृगादिदेवी प्रसरण क्रमेण यत यत आभाति, तत् तत् सृज्यते, तथा सृष्टि पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमषें कंचित काल रज्यति, तदा स्थितिदेव्या तत् स्थाप्यते; चमत्कारपरपर्याय विमर्शन समये तु संहियते।

'यह पांच प्रकार का काम करता है' - इस का पिछते सूत्र से सम्बन्धा है। परमार्थ की द्रष्टि के अनुसार नेत्र आदि इन्द्रिय देवियों के बाहर की ओर प्रसार के क्रम से जो वस्तु प्रकट होती है, उस उस वस्तु की सृष्टि होती है। और जब सृष्टि के पद में वह वस्तु कुच्छ देर निमेश रहित कुच्छ समय के लिये रंग जाये, तब स्थिति देवी उस पदार्थ की स्थिति करती है। चमत्कार का ही दूसरा नाम आनन्द है। ऐसा विमर्श के समय उस पदार्थ का संहार करते है।

जीव भाव में वहीं पांच कर्म होते रहते है जो 'शिव भाव' में होते है। परन्तु जीव भाव में इस का जान नहीं रहता है। यह रहस्य रहता है। पिछने सूत्र में पञ्चकृत्य के बारे में विस्तार से कहा गया है, अतः जो भी यहां कहा जा रहा है उस (पिछले सूत्र) के साथ उसका संबन्ध है।

जीव अवस्था में, जीव नेत्र आदि (ज्ञान तथा कर्म इन्द्रियो) से पदार्थ समूह का आभास करता है। अथार्त इन इन्द्रियों की देवियां जब बाहर की ओर प्रसार करती है तो पदार्थ समूह ही 'सृष्टि' होती हे। और इन्ही पदार्थों के साथ जब राग होता है, तो उन पदार्थों की स्थिति होती है।

परन्तु जब इस बात का ज्ञान होता है कि 'सारे पदार्थ तो वस्तुतः आत्म स्वरूप से अभिन्न है तो आनन्द रूपी चमत्कार होता है। यह अवस्था साधक को बडी में मेहनत से मिलती है। और यह सब 'विमर्शन' से ही प्राप्त होती है। पदार्थो का विमर्श से अपने स्वरूप में लय करना ही संहार है।

यथोक्त श्रीरामेण

'समाधि वज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।

परमामृष्टश्च नष्टश्च त्वदभक्तिवलशालिभिः।।'

इति।।

जैसा श्रीराम ने कहा है

समाधि रूपी वज्र से भी तथा दूसरे तरीकों से भी नही तोडा जा सकता है जो भेद रूपी पर्वत, (उसी भेद को) परार्मश (विमर्ष) से नष्ट करते है आपके (शिव के) भक्तजन जो शोभाय मान है।

शिव भाव में तो हर कोई वस्तु शिव स्वरूप ही है। परन्तु जीव भाव में हर कोई वस्तु दूसरी वस्तु तथा आत्म स्वरूप से भिन्न है। यही भेद है। मुक्ति का साधन तो यही भेद समाप्त करना और इस सारे विश्व को आत्म स्वरूप समझना ही है। यह भेद न तो समाधि, पूजा, यज्ञ, आदि साधणों[1] से समाप्त होता है न तो इन से अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है। परन्तु यदि विर्मष से काम किया जाये तो इस भेद रूपी पर्वत का नाश होगा। भेद अवस्था में जानने वाला, जानी गई वस्तु और जानने का भाव (knower, known and knowing), (प्रमाता प्रमेय और प्रमाण) यह तोनों अलग अलग लगती है। यहां ग्राह्य और ग्राहक भिन्न लगते है। परन्तु विर्मष से (अपने असली स्वरूप को जानने से) ग्राह्य ग्राहक भेद समाप्त होता है और हर कोई वस्तु आत्म स्वरूप ही लगती है। यही शिव अवस्था है जो विमर्ष से ही, भेद को नष्ट करने से (वापस) प्राप्त होती है। जो ऐसा कर सकता है वही तो सर्व स्रेष्ट है।

1. पूजा, यज्ञ, समाधि यह सब तो साधक को परम सत्य जानने के लिये आवश्यक है क्योंकि प्राणायाम आदि से ही मलों का नाश होता है और जीव में अपना वास्तविक रूप दोखने की क्षमता आजाती है। परन्तु इन से भेद समाप्त नही होता है। भेद तो विर्मष से स्वात्म स्वरूप पर ठहरने से ही सामप्त होता है। देखिये रेमूढाः ....पचस्तवी (3–18)

इति। यदा तु संह्रियमाणमपि एतत अन्तः विचित्राषङ्कादिसंस्कारम् आधत्ते, तदा तत् पुनः उद्भविश्यत्संसारबीजभावमापन्नं विलयपदम अध्यारोपितम्। यदा पुनः तत तथा अन्तः स्थापितम् अन्यत वा

अनुभूयमानमेव हठपाकक्रमेण अलंग्रासयुक्त्या चिदग्निसाद्भावम आपद्यते, तदा पूर्णतापादनेन अनुगृह्यते एव।

जब संहार किया हुआ भी (यह पर्दाथ) अन्दर नाना प्रकार की शङ्काओं और सस्कारों (का रूप) धारण करता है तब आगे (भविष्य) के लिये उत्पन्न होने वाले संसार के बीज भाव को प्राप्त होकर विलय पद को प्राप्त होता है। जब इस प्रकार अन्दर ठहरी हुई शंका किसी दूसरे अनुभव को, हठ पाक क्रम से अलंग्रास की युक्ति से चिदअग्नि के साथ एकता प्राप्त करता है, तब पूर्णता प्राप्त करने से उस पर्दाथ का अनुग्रह होता है।

अब पिदान तथा अनुग्रह की बात हो रही है। जब पर्दाथ समूह का संहार होता है तो अन्दर जाकर (सवित) में वह नाना प्रकार की शङ्काओं तथा संस्कार रूप में ठहरता है। अर्थात एक बीज के रूप में स्थित होकर, भाविष्य में उत्पन्न होने के लिये रहता है। यही पिदान (concealment) है। क्योकि पदार्थ समूह का संहार होके भी उसका बीज संस्कार रूप में स्थित है जो फिर उत्पन्न होकर जीव को कर्म बन्धनों में फसा कर संसारी बनाता है। परन्तु यदि इन अन्दर ठहरी हुई शंकाओं (तथा संस्कारों) को अनुभव से, तथा क्रम अक्रम, अलंग्रास की युक्ति से चिदअग्नि में लय किया जाये अर्थात धीरे धीरे अभ्यास से सर्व्व को चैतन्य स्वरूप ही देखा जाये तो पूर्णता प्राप्त होती है यही अनुग्रह है।

ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा संनिहतमपि सद्गुरूपदेशं बिना न प्रकाशते, इति सद्गुरूसपर्यैव एतत्प्रर्थाथिना अनुसर्तव्या ॥ ११ ॥

इस प्रकार का पांच प्रकार का कार्य जो सभी (प्राणियों) को (नित्य) अपने साथ ही है, सद्गुरू के उपदेश के बिना (उसका) ज्ञान नही होता है इसलिये सदगुरू की पूजा (सेवा) करनी चाहिये, इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये सद्गुरू के पीछे चलना अनुसरण करना) चाहिये।

विडम्बना तो यह है कि जीव मूलतः शिव ही है अतः पंचकृत्य तो वह भी करता रहता है, परन्तु मोह में पडने के कारण उसे इस का ज्ञान नही है। बन्धनों से मुक्त होने के लिये इसी ज्ञान को प्राप्त करना है और एक सद्गुरू ही प्राणी को उपदेश से यह ज्ञान दे देता है। अतः मुक्ति के लिये गुरू का अनुसरण करना चाहिये।

यहां पर एक विशेष बात कही गई है कि गुरू के बिना उपासना मार्ग के रहस्य मालूम नही होते है और न उसकी अडचने दूर होती है। सत्य को जानने के लिये गुरू का अनुसरण करना चाहिये। गुरू सब से श्रेष्ट है। गुरू साक्षात भगवान है। गुरू, मन्त्र और इष्ट देवता एक ही है। शिष्य अधिकार हीन भी हो तो भी सद्गुरू की शरण में जाने से अधिकारी बनता है। इस लिये जिन के हृदय में भगवानत्प्राप्ति की इच्छा है, उनके लिये श्री गुरू देव की शरण में जाना सर्वप्रथम कर्तव्य है। इसी संर्दभ में शिवसूत्र में कहा गया हैगुरुपायः।

यस्य पुनः सद्गुरूपदेशं बिना एतत्परिज्ञानं नास्ति, तस्य् अवच्छादितस्वरूपाभिः निजाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं भवति। – इत्याह

जिस (पुरुष को) फिर से, सदगुरू का उपदेश न होने के कारण इस (पञ्चकृत्य) का ज्ञान नही है उसे अपने असले स्वरूप से जो अभिन्न है, अपनी शक्तियों से मोह (भाव) होता है। यही बात अब अगले सूत्र में कही है।

जिस प्राणी को सद्गुरू का उपदेश न होने के कारण पञ्चकृत्य का ज्ञान नही होता है, उसे अपनी ही शक्तियों से मोह भाव हो जाता है। अगले सूत्र में इसी बात की व्याख्या की गई है कि जीव यद्यपि शिव ही है तो भी जीव भाव में वह मोह में किस कारण फसता है। शिव की शक्तियां तो असीम है परन्तु जीव भाव में यही शक्तियां परिमित हो जाती है और जीव यह समझता है कि यह परिमित शक्तियां उसकी अपनी है अर्थात वह समझता है कि वही करने वाला है। अर्थात अपनी ही शक्तियों से उसे मोह भाव प्राप्त होता है।

तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।।१२।।

यह बात न जानने (कि पञ्चकृत्य हर समय होता रहता है) एवं अप शक्तियों (के सीमित होने) के कारण ही (जीव) मोह में पढ जाता है औ संसारी बनता है।

शिव अपनी स्वात्म शक्ति से ही जीव भाव को प्राप्त होता है। शिव पञ्चकृ कारक है और जीव भाव में भी वह यह 5 कर्म सीमित तरीके से करता संसारी बनने का कारण यही है कि जीव की (अपनी) शक्तियां संकुचि होजाती है और वह अपने असली स्वरूप को भूल कर अपनी सकुचि शक्तियों से मोहित हो जाता है, अतः वह अपनी शक्तियों से ही इस संसार बन्धन में पढ कर संसारी बनता है।

'तस्य' एतस्य सदा संभवतः पंत्र्चविधकृत्य कारित्वस्य 'अपरिज्ञा – शक्तिपात हेतुक स्वबलोन्मीलनाभावात अप्रकाशने 'स्वा शक्तिभिः व्यामोहितत्वं' – विविधलौकिक शास्त्री शङ्काशङ्कुकीलितत्वं यत, इदमेव 'संसारित्वम'। तदुक्तं सर्ववीर भट्टारके

"अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृति"।।

इति।।

यह पञ्चकृत्य नित्य (सदा) होता है और जब इस भाव का अज्ञान अर्थात शक्तिपात (का हेतु) जो अपने ही बल के जानने के अभाव कारण प्रकट नही होता है तो (जीव) अपनी ही शक्तियों से मोह में जाता है अर्थात अनन्त प्रकार के लौकिक (लोगों में प्रचलित) शास्त्रों बताई गई शङ्का रूपी कीलों से कीलित हो जाता है, यही संसारी भाव

सर्ववीर भट्टारक शास्त्र में यही कहा गया है।

(लोग) अज्ञान के कारण शङ्काओं में पड जाते है (जिस से) जन्म मरण रूपी चक्र (संसार) में फस जाते है।

यहां पर इस बात का निर्णय किया गया है कि संसार बन्धन का कारण क्या है? अगरचि जीव वस्तुतः शिव रूप है तो फिर वह इस जीवन मरण के क्रम में फस कर संसारी क्यों बनता है?. यहां यह कहा गया है कि अज्ञान ही इस का कारण है। जीव यह भूल जाता है कि वह शिव है वह अपनी शक्तियों को जानता नही है। अपने स्वरूप को न जानना इसका अज्ञान है। अपनी शक्तियों पर शङ्का करने का कारण लोगों में प्रचलित शास्त्र है। और यह शङ्कायें कील रूप से उसे मोह तथा अज्ञान में फसाती है और वह संसारी बन जाता है।

इस सूत्र की टीकाकार ने तीन प्रकार की टीका से निर्णय किया है। पहला जब इस नित्य होने वाले पांच काम करने वाले भाव के न प्रकट होने से अर्थात अपने पंचकृत्य करने वाले स्वभाव का अज्ञान होने से सांसारी बनता है। जिस, अपने चित्‌बल के जानने में ईश्वर अनुग्रह ही कारण है उस अनुग्रह के न होने से अपना चैतन्य बल का ज्ञान न हो तो जीव अपनी ही शक्तियों से मोहरूपी अज्ञान में पड जाता है। तीसरा, अनन्त प्रकार की लोगों में प्रचलित या शस्त्रों में बताई शंड्का रूपी कीलियों से कीलित हो जाता है।

शास्त्र तो केवल जीव के लिये मार्गदर्शन का कार्य कर सकते है, उनके अन्दर ज्ञान नही है। ज्ञान तो स्व्यं के अन्तर में है – जिसे उपलब्ध करना है।

देखिये:

> आचक्ष्व श्रणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
> तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्व विस्मरणादृते।।
>
> अष्टावक्र गीता।। 16–1 ।।

> एवं ग्रन्थसभ्यस्य मेधावी विचार्थ च पुनः पुनः
> पलाल भिव धान्यार्थी त्यजेद ग्रन्थम शेषतः।। पञ्चदशी।।

'मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः।।'

इति च। तथा हि – चित्प्रकाशात अव्यतिरिक्ता नित्योदित महामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी या इयं परा वाकशक्ति आदि–क्षान्त

रूपाशेषशक्तिगर्भिणी, सा तावत पश्यन्ती मध्यमादिक्रमे
ग्राहकभूमिकां भासयति। तत्र च परारूपत्वेन स्वरूपम् अप्रथयन
मायाप्रमातु: अस्फुटासाधारर्णथावभासरूपां प्रतिक्षणं नवन
विकल्पक्रियामुल्लासयति, शुद्वामपि च अविकल्प भू
तदाच्छादितामेव दर्शयति। तत्र च ब्राह्म्यादिदेव–ताधष्ठितककारा
विचित्र शक्तिभि: व्यामोहितो देहप्राणादिमेव परिमितम् अवश
आत्मानं मन्यते मूढजन:। ब्राह्म्यादिदेव्य: पशुदशायां भेद विष
सृष्टिस्थिती, अभोदविषये च संहारं प्रथयन्त्
परिमितविकल्पपात्रतामेव संपादयन्ति; पतिदशायां तु भेदे संहार
अभेदे च सर्गस्थिती प्रकटयन्त्य:, क्रमात्क्रमं विकल्प निर्ह्रासने
श्रीमद्भैरवमुद्रानुप्रवेशमयीं महतीम अविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्

'सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानत:।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।'

इत्यादिरूपां चिदानन्दावेशमग्नां शुद्धविकल्प शक्तिम उल्लासयन्
तत: उक्तनीत्या स्वशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम।

सभी मन्त्र वर्ण रूप है और सारे वर्ण शिव रूप है। वह ऐसे सिद्ध हो सक
है। चितप्रकाश से अभिन्न और नित्यउदय में आई हुई, महा मन्त्र रूप और प
अहंता के विर्मश से पूर्ण जो यह परा वाक (परा वाणी) रूपी शक्ति है जिस
'अ' कार से 'क्ष' कार तक सारे शक्ति चक्र को अपने (गर्भ के) अन्दर धर
किया है वही (परा शक्ति) पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के क्रम से जीव भ
अवस्था में प्रकट होती है। इस (जीव प्रमातृ भाव) में वह अपने (ऊ
परास्वरूप को छिपा कर, माया प्रमाता (जीव) के अस्फुट और असाधारण वि
ो (पर्दाथो) के रूप में प्रतिक्षण नये नये विकल्पों की क्रयाओं को उल्लासि
(प्रकट) करती है। शुद्ध (और मल रहित) जो निर्वकल्प भाव है उसे भी (उ
विकल्प से छुपा देती है। इस अवस्था में ब्राह्मी आदि देवता ही जिनकी अ
ष्ठाता है ऐसे 'क' कार आदि भिन्न भिन्न शक्तियों से सीमित होकर (परत

होकर) (अपने को) शक्ति हीन हुआ जानकर (देह प्राण आदि से परतन्त्र होकर परिमित विधों कों अपना स्वरूप मान कर वह मूर्ख जीव अपने आप को मानता है। ब्राह्मी आदि देवियां, इस पशुदशा में (जीव दशा में), भेद के विषय में सृष्टि और स्थिति को प्रकट करती है और अभेद के विषय में संहार प्रकट करती है। (जिस से जीव) परिमित विकल्पों का पात्र बनता है।

पति दशा (शिव दशा) में भेद का संहार (होकर) और अभेद में सृष्टि तथा स्थिति प्रकट करती है और क्रमशः (क्रम से) विकल्पों को दूर करने से (हटाने से) श्री (कल्याण मयी) भैरव मुद्रा में प्रवेश् करने वाली उत्कृष्ट निर्विकल्प भाव की अवस्था को प्रकट कर देती है। (कहा है) यह सारा 36 तत्वों का बना हुआ जगत मेरा ही ऐश्वर्य है, ऐसा जिस किसी प्रमाता का ज्ञान है और जो विश्व स्वरूप बना है, उसके विकल्पों के होने पर भी वह शिव रूप ही है।

ऐसा होने पर चिद आनन्द के आवेश में डूब कर (एक्य होकर) शुद्ध विकल्प शक्ति को विस्तारती है। इस लिये बताई गई नीति के अनुसार अपनी शक्तियों द्वारा ही मोहित हो जाना संसारी (जीव) भाव का कारण है।

सारा विश्व तो "शब्द ब्रहम" स्वरूप है, अतः सारे वर्ण शिव रूप है। सभी मन्त्र 'वर्णों' के बने है अतः वह भी शिव से अलग नही है। वह ऐसे है :

शिव तो परिर्पूण है और सारा विश्व उस में (potentially) स्थित है। जब शिव इस विश्व के रूप में स्फुरित होने की सोचते है तो उनमें जो पहिली हरकत होता है उसे स्पन्द कहते है। शास्त्रों में इस स्पन्द को एक ध्वनि के रूप में समझा जाता है। यही ध्वनि इस विश्व का आधार बनती है। यही ध्वनि भिन्न भिन्न शब्दों का रूप लेती है। अतः जब संवित शक्ति इस विश्व के रूप में स्फुरित होती है तो वह एक वाणी के रूप में स्फुरित होती है। यह स्फुरण चार अवस्थाओं के रूप में होता है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।[1]

परा वाणी शिव तथा शक्ति से भिन्न नही है। यह तो पूर्ण अहंता रूप तथा नित्य उदय है और सारा विश्व जो शब्द रूप है इसी के गर्भ में (potentially) स्थित है। और यही परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के क्रम से जीव अवस्था में प्रकट होती है। जीव भाव में वह अपने परा स्वरूप को छिपाती है।[2] और इस माया प्रमाता (limited experient) के अस्फुट परन्तु हरक्षण नये नये विकल्पों के रूप में पदार्थों को प्रकट करती है। जीव का जो अकृत्रिम रूप है वह तो मलरहित शुद्व शिवरूप है, और वह अवस्था

तो निर्विकल्प भाव वाली है। उस को भी विकल्प से छुपा देती है।
विकल्प भूमि में ब्राहमी आदि शक्तियां[3] जो 'क' कार आदि आठ प्रकार
शक्तियां है, उन से ही मोहित होकर अपने असली स्वरूप को भूल कर,
देह आदि को ही अपना स्वरूप मानता है, उसकी असीमित शक्तियां सी
होजाती है और वह शक्ति हीन होकर जीव भाव को प्राप्त होता है अर्थात
अविकल्प भूमि से विकल्प भूमि में आता है तो मोहित हो कर मूर्ख भाव
प्राप्त होता है और चिदप्रकाश को आत्मा न मान कर देह आदि को ही अ
असली स्वरूप मानने लगता है।

इस पशु दशा (जीव दशा) में यही ब्राह्मी आदि देवियां सृष्टि
स्थिति को जब प्रकट करती है तो भेद रूप होती हे और संहार को अभेद
प्रकट कटती है जिस से पशु प्रमाता (जीव) परिमित विकल्पों का पात्र ब
है।

परन्तु शिव दशा (पति दशा) में भेद का संहार होता है और स
तथा स्थिति अभेद के रूप में होती है।

इस लिये क्रम से विकल्पों को हटाने से जीव फिर से उत्
निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करता है। इसे भैरव मुद्रा कहते है।[4] भैरव
में, प्रमाता को यह ज्ञान रहता हे वि 36 तत्वों से बना विश्व शिव (अर्थात
ही) रूप है। ऐसे प्रमाता के विकल्प होने पर भी वह शिव रूप ही होता
इस अवस्था में अपनी ही शक्तियां इस जीव को विस्तारती है।

अर्थात यही, अपनी ही शक्तियां जीव को मोहित करके संसारी बन
है (और यही शक्तियां उसे निर्विकल्प भाव में भीले सकती है)

1) देखिये परा प्रावेशिका

2) परा से जब माया भूभि में आई तो भेद होने के कारण विकल्प बनते है। अ
परा वाणी तो तुर्यातीत थी परन्तु भेद के कारण विकल्प भूमि में आती है।

3) यह आठशक्तियां है: ब्राहमी, माहेश्वरी, कुमारी, वाराही, ऐन्द्री, वैष्णवी, चामु
तथा महालक्ष्मी, जो 'क' वंग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य वर्ग, श वंग तथा 'अ'
की अधिष्ठाता है।

शक्तिदेवियां इस प्रकार की भी होती है : अमा (अ, कामा) (क), चार्वङ्गी (च वर्ग), टङ
ारिणी (ट), तारा (त वंग), पार्वती (प), यक्षिणी (य), शारिका (श वर्ग)।

4) जब जीव पशु दशा से पति दशा में जाता है, तो भेद का संहार होकर, अ
बनकर विकल्पों को पूरी तरह हटा कर तुर्यातीत अवस्था में जाता है। इस को भैरव मु
कहते है और वह जानता है कि यह सर्वरव मेरा ही वैभव है।

रव मुद्रा वह अवस्था है जिसके बारे में कश्मीरी में कहते है

ती म्य करनाव यथ न् आस्यम करनुय क्येंह।

ती म्य स्वरनाव यथ न् आस्यम स्वरनुय क्येंह।।

कंच चितिशाक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसार वामाचारत्वाच्च ामेश्‍र्याख्या सती, खेचरी–गोचरी दिक्चरी – भूचरी रूपैः शेषै, प्रमातृ – अन्तः करण – बहिष्करण – भावस्वभावैः रिस्फुरन्ती, पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किचित्कर्तृवाद्यात्मक – कलादिशक्तयात्मना खेचरी चक्रेण गोपितपारमार्थिक चिद्गनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति; भेदनिश्चयाभिमान – विकल्प धानान्तः करण देवी रूपेण गोचरी चक्रेण ोपिताभेदनिश्चयाद्यात्मक पारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते; भेदालोचनादि – प्रधानबहिष्करण देवतात्मना च दिक्चरी चक्रेण गोपिताभेदप्रथा – त्मकपारमार्थिकस्वरूपेण स्फुरति; सर्वतो व्यवछिन्नाभासस्वभाव – प्रमेयात्मना च भूचरी – चक्रेण गोपित र्सावात्म्यस्वरूपेण पशुहृदय व्यामोहिना भाति। पति भूमकायां तु सर्व कर्तृत्वादिश्क्तयात्मक – चिद्गनखेचरीत्वेन, अभेद निश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन, अभेदालोचनाद्यात्मना–दिक्चरीत्वेन स्वाङ्गल्पाद्वयप्रथासारप्रमेयात्मना च भूचरीत्वेन पतिहृदय – विकासिना स्फुरति। तथा च उक्त सहज चमत्कार परि जानिता – कृतकादरेण, भट्ट दामोदरेण विमुक्तकेषु

'पूर्णाविच्छिन्नमात्रन्तर्बहिष्करण भावगाः।

वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञनात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः।।'

इति। एवं च निज शक्ति व्यामेहिततैव संसारित्वम्।

इस के अतिरिक्त चिति शक्ति भगवती ही जगत को अपने अन्दर
(वमन करके) बाहिर निकाल कर (सृष्टि करके) संसार से उल्टे आच
होने के कारण वामीश्वरी नाम वाली (शक्ति) होती हुई खेचरी, गोच
दिक्चरी और भूचरी रूप में (सारे), (तथा) जिन के स्वभाव क्रम
प्रमाता, अन्तःकरण, बहिष्यकरण और प्रमेय है, प्रकट होती है। प
भूमिका (जीव दशा) में (यही चिति शक्ति) शून्य पद पर ठहर कर
थोडा सा करने रूप, थोडा सा जानने रूप आदि कला, विद्या अ
शक्तियों के रूप खेचरी शक्ति चक्र से अपने (सचे) स्वरूप को छुपा
चिद्गगनचरी (जो चिद आकाश में फिरती है) के रूप में चमकती
(प्रकट होती है); भेद का ही निश्वय करना, अभिमान करना औ
विकल्प करना ही जिनका प्रधान स्वरूप है ऐसी अन्तःकरण देवी
रूप से, गोचरी चक्र से अपने (सचे) स्वरूप को, जो अभेद आदि
निश्चय करता है, (उस स्वरूप को) छिपा कर प्रकट होती है। भेद
ही देखना, आदि जिनका प्रधान स्वरूप है, ऐसे बहिष्करण देवता
(प्रकट करने वाले) स्वरूप को छिपा कर विकास में आती है। सब अ
से सच्चे सर्वात्मता के स्वरूप को छिपा का (अज्ञान में पडे) प
प्रमाताओं के हृदय को मोह में डालती है। (इस के विपरीत) पति (शि
दशा में सर्व कर्तृता आदि (भाव की) शक्तियों के रूप में चिदाकाश
फिरने वाले (खेचरी) भाव से, अभेद का निश्चय आदि रूप से गोच
भाव से, अभेद को देखने आदि रूप से दिक्चरी भाव से, और अप
अङ्गों की तरह अपने से अभि दिखाई देना ही (जिनका) स्वरूप
(ऐसे) प्रमेयं रूप से भूचरी भाव से, पति (शिव) के हृदय में विकसि
होती है।

जैसा कि, कहा है, अपने स्वाभाविक आनन्द के चमत्कार
सच्चा आदर प्राप्त किये हुये श्री दामोदर भट्ट ने अपने (अनुभव से) मु
श्लोकों में कहा है। परिर्पूण, भेद रहित, प्रमाता अन्तःकरण बहिष्यकर
भाव से जाने वाली वामेश्वरी आदि शक्तियां आदि जानी जायें तो (व
शक्तियां) उस जानने वाले को मुक्ति देती है और अगर न जानी जा
तो बन्धन (संसार) में डाल देती है।

इसी सूत्र की अब दूसरे प्रकार से व्याख्या की जा रही है। यही चिति श
ही इस सारे विश्व को वमन करके इसकी सृष्टि करती है। सामान्यतः तो स

ानी के द्वारा बालक को जन्म देती है, परन्तु चिति शक्ति उलटे आचार से थात मुंह के द्वारा वमन रूप सृष्टि करती है, अतः उसे वामीश्वरी कहते है। ही चिति शक्ति, वामीश्री रूप से चार शक्तियों के रूप में प्रकट होती है। वेचरी, गोचरी, दिक्चरी तथा भूचरी। रवेचरी शक्ति का स्वभाव प्रमाता का है। शुभूमिका में यह चिति शक्ति शून्य पद पर ठहर कर रवेचरी चक्र के रूप में मकती है। वह कला, विद्या, राग आदि तत्वों के रूप से अपनी शक्तियों को कुचित करती है और अब उस में केवल थोडा सा करने की, थोडा सा ानने की (आदि) शक्ति रहजाती है। यहां वह चिदगगनचरी के रूप में प्रकट ोती है।

आगे वह गोचरी चक्र के रूप में प्रकट होती है जहां पर वह अन्तर्कणों ी देवी (स्वभाव) के रूप में होती है। उसका सचा स्वरूप तो अभेदमय है, रन्तु यहां पर वह भेद का निश्चय करती है, अहङ्कार (अभिमान) तथा वकल्पों को जन्म देकर वास्तविक स्वरूप को छुपाती है।

तीसरी अवस्था में शक्ति चक्र में वह अब दिक्चरी रूप में प्रकट होती है। यह बहिईन्द्रियों के देवता के रूप में प्रकट होती है। वास्तविकरूप में तो किसी भी वस्तु को शिवरूप (अभेद) ही देखना है, परन्तु अब वह भेदमय ही देखती है। बहिर्ष्कणों की देवी यही दिक्चरी शक्ति है।

अन्ततः यही चिति शक्ति भूचरी शक्ति के रूप से विकसित होती है जिसका स्वभाव प्रमेय का है। यह खेचरी शक्ति सचे आत्म स्वरूप को छिपाती है और जीव सब और से भेदभाव ही देखता है। इसी शक्ति के कारण ही मोह पेदा होता है।

यही चिति शक्ति पति दशा अर्थात शिव दशा में, खेचरी शक्ति के भाव से, चिद्गगनचरी के रूप में सर्वकर्तृता भाव देती है। गोचरी शक्ति के रूप में वह हर और अभेद का भाव देती है, और अभेद को देखने आदि के रूप से दिक्चरी शक्ति भाव से; एवं भूचरी शक्ति के कारण इस सारे विश्व को अपने से ऐसे ही अभिन्न देखता है जैसे उसके ही देह के अंग हों और इस रूप में विकसित होती है।

12 वां सूत्र कहता है कि जीव अपनी ही शक्तियों के कारण मोह में पडता है और संसारी बनता है। इसी बात को समझाने के लिये व्याखयाकार कहता है कि शिव तो र्सवशक्तिमान है। संवित देवी शक्ति परा, सूक्ष्मा, व्यापिनी, निर्मला, शिव

शक्ति चक्रस्य, जननी, परानन्दामृता त्मिका रूप है। संवित शक्ति अर्थात य
चिति शक्ति पति दशा में, शिव को सर्वकर्तृत्व भाव, अभेद को जानने का भ
अभेद ही देखने का भाव तथा विश्व को अपना ही अङ्ग रूप देखने का भ
देती है। यह चार भाव, चार शक्तियों के रूप में, खेचरी, गोचरी, दिग्चरी त
भूचरी के रूप में होते है।

परन्तु जब जीव भाव होता है तो यही चार शक्तियां जीव को मोह
डाल कर संसारी बनाती है। (अथात अपनी ही शक्तियों के कारण मोह
पडता है।)

खेचरी शक्ति उसे किचिंत करने की, थोडा सा जानने की शक्ति दे
है। गोचरी, उस से अभेद जानने के भाव को कम कर लेती है। दिग्चरी उ
चारों ओर अभेद देखने के भाव को संकुचित कर देती है। और भूचरी से उ
यह सारा विश्व अपने से भित्र लगता है।

शक्तियां जो उसे शिव भाव में सर्वशक्तिमान बनाती है, वही शक्ति
जीव भाव में उसकी शक्तियां संकुचित करके उसे संसारी बनाती है।

शक्ति चक्र में संवित देवी की शक्तियां के विकास का क्रम यो है

क) खेचरी — अन्तःर्कण के शक्तिचक्र का विकास
ख) गोचरी — ज्ञानेन्द्रियों के शक्तिचक्र का विकास
ग) दिग्चरी — र्कमेन्द्रियों के शक्तिचक्र का विकास
घ) भूचरी — पंचमहाभूतों के शक्तिचक्र का विकास

इसके अतिरिक्त

खेचरी — आकाश में फिरने वाली
गोचरी — वाणी में फिरने वाली
दिग्चरी — दिशओं में फिरने वाली
भूचरी — पृथ्वी पर फिरने वाली

**अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकै
स्फुरन्तासारर्कतृतात्मा ऐश्वर्य शक्तिः। सा यदा स्वरूप गोपयित्व
पाशवे पदे प्राणापान – समान – शक्तिदशाभिः जाग्रतस्वप्न
सुषप्तभूमिभिः देह – प्राण – पुंयष्टककलाभिश्च व्यामोहयति**

तदा तद्व्यामोहितता संसारित्वम् ; यदा तु मध्यध
ामोल्लासाम् उदानशक्तिं, विश्वव्याप्तिसारां च व्यानशक्तिं
र्तुयदशारूपां र्तुयातीतदशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति,
तदा देहाद्यवस्थायामपि, पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति। एवं त्रिध
ा स्वशक्तिव्यामोहितता व्याख्याता। 'चिद्वत' इति (९) सूत्रे
चित्प्रकाशो ग्रहीतसंकोचः संसारी इत्युक्तम, इह तु
स्वशाक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्वे भवति–इति भङ्गयन्तरेण
उक्तम। एवं संकुचित शक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्ति व्यामोहितो
न भवति, तदा अयम्

'..............शरीरी परमेश्वरः।'

इत्याम्नाय स्थित्या शिवभट्टारक एव, – इति भङ्गया निरूपितं
भवति। यदागमः

'मनुष्य देहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः।'

इति। उक्तं च प्रत्यभिज्ञाटीकायाम्

'शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं
शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति'

इति ।। १२।।

इसके अतिरिक्त (अब इस सूत्र का तीसरा अर्थ करते हैं)। चितस्वरूप परमेश्वर की अपनी, अविनाशी, अतुलनीय, स्फार को आने के सार के करता भाव रूपी, ऐश्र्वय शक्ति है। वह शक्ति जब अपने असली स्वरूप को छिपा कर जीव दशा में प्राण अपान और समान शक्ति (दशा) से जाग्रत, स्वपन और सुषप्ति की अवस्थाओं से देह, प्राण और पुर्यष्टक रूप अंशो से मोह में जाती है, तो उस मोहित होने को ही संसारी (जीव) कहते है। (परन्तु) जब (यह शक्ति) मध्यधाम के उल्लास रूप उदान शक्ति, विश्व में व्याप्त रूप व्यान शक्ति, और तुर्या एवं तुर्यातीत दशा रूप से चिद, आनन्द (घन) से भरी अवस्था प्रकट करती है तब देह आदि

अवस्था में होकर भी (शरीरधारी होते हुये भी) पति (शिव) दशा वाला (जीव) जीवन मुक्त हो जाता है। इस तरह तीन तरीकों से अपनी शक्तियों से (कैसे) मोहित होता है, इस की व्याख्या की गई।

चिद्वत का अर्थ सूत्र ६ में किया है कि चित प्रकाश के संकोच ग्रहण करने से संसारी बनता है परन्तु (इस १२ सूत्र में) यहां कहा है कि अपनी ही शक्तियों से मोहित हो जाने से संसारी (भाव) बन जाता है। यह एक ही बात को कहने का दूसरा ढंग है। इस प्रकार संकुचित शक्ति वाला, प्राण (शरीर) आदि वाला (जीव) जब अपनी शक्तियों से मोह में न पडे तो यह "- - - शरीर धारी जीव ही परमेश्वर बनता है।" इस प्रकार शास्त्रों में कही गई द्रष्टि के अनुसार (कल्याणमय) शिव (भट्टारक) ही बन जाता है। यह दूसरे ढंग से बताया है। दूसरे आगम और तन्त्रों में भी कहा है "मनुष्य शरीर धारण करते हुहे भी छिपे हुये परमेश्वर है। श्री प्रतिभिज्ञा टीका में भी कहा है : जो चटपटादि को भी ३६ तत्व से बने हुये शिरूप भाव से देखते हैं।
वही (स्वरूप लाभ) सिद्धि को प्राप्त करते है ।।१२।।

इसी 12वों सूत्र को अब तीसरे प्रकार से समझाया गया है। सूत्र कहता है कि जीव अपनी ही शक्तियों (के सीमित होने) के कारण संसारी बनता है।
परम शिव जो चित स्वरूप है उसकी अतुलनीय और अविनाशी ऐश्वर्य शक्ति है जिस के कारण वह स्फार में आकर अपना प्रभुत्व प्रकट करता है। जब जीव दशा में वह देहधारी बनता है और प्राण, पुरीयष्टक वाला बनता है तो प्राण, अपान एवं समान (शक्ति) से जाग्रत, स्वप्न तथा सुषप्ति अवस्थाओं में जाकर मोह को प्राप्त होता है। इस तरह वह अपने वास्तविक स्वरूप को छुपा कर मोह को प्राप्त होता है। यही मोह होने को संसारी कहते है।
परन्तु यही शक्ति ब्रहम नाडी (सुषम्णा) अर्थात मध्यधाम में उदान शक्ति के रूप एवं सर्वव्यापक व्यान शक्ति के रूप में उल्लास को आती है तो तुर्य तथा तुर्यातीत अवस्थाओं का अनुभव करती है जो चिदानन्द से भरी अवस्था है यही दशा जीवनमुक्त की दशा है। और इस अवस्था में देहधारी होते हुये भी जीव शिव भाव को प्राप्त होता है।

अतः तीन प्रकार से यह समझाया गया कि अपनी शक्तियों के सीमित होने के कारण ही जीव संसारी बनता है।
तीन जाग्रत, स्वपन तथा सुषप्ति अवस्थायों होती है। इसके अतिरिक्त दो और

अवस्थायों, तुर्य एवं तुर्यातीत होती है जो कुल मिलाके पांच अवस्थायों बनती है। साधारणतः जाग्रत अवस्था उस को कहते है जब जीव आखें खुली रखकर सचेत होता है। निद्रा की अवस्था में स्वप्न वाली अवस्था को स्वपन कहते है। और गाढी निद्रा (जब स्वप्न भी नही आते है) उसे सुषप्ति कहते है। शिव सूत्रों में कहा गया है "ज्ञानं जाग्रत" केवल बाह्य इन्द्रियों से पैदा हुआ सर्वसाधारण अर्थ के विषय का ज्ञान होना जाग्रत अवस्था है। स्वप्नोविकल्पः – अस्फुट विवेक को स्वप्न कहते है। यह केवल मन के विकार से होता है। अविवेको माया सौषुप्तमः" विवेक बुद्धि के अभाव की स्थिति जो मोह में पडने से होती है, उसे सुषप्ति कहते है। यह गाढ तमोगुण अवस्था है। या रखों कि जाग्रत में स्वप्न एवं सुषप्ति होती है, स्वप्न में जाग्रत तथा सुषप्ति होती है आदि। इन तीनो अवस्थाओं में शक्ति चक्र का अनुसंधान करने वाला योगी तुर्य के आनन्द रस से भरा रहता है। इस भेद प्रथा के अभाव वाली अवस्था को तुयातीत अवस्था कहते है।

प्राण भी ५ प्रकार के है। प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान। संवितशक्ति ही प्राण में परिवर्तित होती है अतः प्राण मूलतः, शक्ति ही है। जीव जब तक मोह में होता है तो यही तीन शक्ति रूप प्राण, अपान तथा समान उसे जाग्रत स्वप्न तथा सुषिप्ति अवस्था में रखती है। परन्तु जब मध्यनाडी का विकास होता है तो यह शक्ति (उदान एवं व्यान) उल्लास में आकर तुर्य तथा तुर्यातीत अवस्था का अनुभव करती हे और साधक जीवनमुक्त होता है।

उक्तसूत्रार्थप्रातिपक्ष्येण तत्वट्रष्टिं दर्शयितुमाह

पीछे कहे हुये सूत्र के दूसरे पक्ष के अनुसार परर्माथ द्रष्टि बताने के लिये (अगला) सूत्र कहा है।

पिछले सूत्र (12वों) में यह सिद्ध किया गया है कि पंञ्चकृत्य के न जानने से अपनी ही शक्तियों से मोह भाव में जाने से संसार भाव बन जाता है। अब इसी बात को, अर्थात पिछले सूत्र का अर्थ एक और प्रकार से बताया जा रहा है ताकि असली सत्य पूरीतरह समझ आये। अब यह बताया जा रहा है कि पञ्चकृत्य को जानने से ही परर्माथ लाभ प्राप्त होता हैं अर्थात शिव भाव की प्राप्ती होती है।

तत्परिज्ञाने चित्तमेव अर्न्तमुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात चितिः ।। १३ ।।

उस (पञ्चकृत्य) को जानने पर चित्त (मन) अर्न्तमुखी भाव हो जाने से चेतन पद पर आरूड होकर चिति बन जाता है।

आत्मस्वरूप शिव जब अपने चेतन पद से नीचे आकर संकोच ग्रहण करता है तो वह भेद भाव में फस कर जीव भाव को प्राप्त होता है। यही पर मन बर्हिमुख होता है। इस उलझन से निकल कर जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तो मन अर्न्तमुखी होकर चिति बन जाता है और चेतन पद पर आरूड हो जाता है।

जीव का मन बन्धन का कारण है और वही उसे मुक्ति देता है अष्टा वक्र गीता (8–3) में कहा है : तदा बन्धो यदा चित्त सक्तं कास्वपि दृष्टिषु
तदा मोक्षो यदा चित्तमासक्तं र्सवदृष्टिषु।।
जब मन (चित्त) किसी द्रष्टि (विषय) में लगा हुआ है, तब बन्ध है और जब मन सब विषयों से किसी में आसक्त नही है, तब मुक्ति है।

पूर्वसूत्रव्याख्याप्रसङ्ेगन प्रमेयद्रष्टया वितत्य व्याख्याप्रायमेतत् सूत्रम्; शब्द संगत्या तु अधुना व्याख्यायते। 'तेस्य' आत्मीयस्य पञ्चकृत्य कारित्वस्य 'परिज्ञाने' सति अपरिज्ञानलक्षण-कारणापगमात् स्वशक्तिव्यामेहितितानिवृतौ स्वातन्त्र्यलाभात् प्राक् व्यख्यातं यत 'चित्तं' तदेव संकोचिनी बर्हिमुखतां जहत; 'अर्न्तुमुखी भावेन चेतनपदाधयारोहात' — ग्राहकभूमिका क्रमणक्रमेण संकोचकलाया अपि विगलनेन स्वरूपापत्त्या 'चितिर' भवति स्वां चिन्मयी परां भूमिमाविशति इर्त्यथः।।१३।।

पिछले सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग से एवं जीव की द्रृष्टि से भी इस (१२वें) सूत्र की विस्तार पूर्वक टीका पहिले ही की गई है। फिर भी अब शब्दों की संगति (संबन्ध) के अनुसार इस की टीका की जायेगी। तस्य (का अर्थ है) (उसे) अपने पांच कर्म करने (वाले स्वभाव) का, परिज्ञान (का अर्थ है) जब यथार्थ ज्ञान होजाए अर्थात अज्ञान के लक्षण के कारण के हटने से, अपनी ही शक्तियों से (जो) मोह (हुआा है, उसके) हटने से स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है (जिसके स्वरूप का) पीछे (पाचवें सूत्र में) व्यख्या (निर्णय) की गई है। (वह) चित (का अर्थ है मन) ही संकोच उत्पन्न करने वाली बर्हिमुखता (बर्हिमुख भाव अर्थात भेद व्यवहार) से छुटकारा पाकर, 'अन्तर्मुखी भावेन चेतन पदाध्यारोहात अन्तर्मुखी भाव में जाकर चेतन पद पर आरूढ हो जाने से ग्राहक भूमिका (भाव) का क्रम से शैनः शैनः (संकोच) को घटाते घटाते, अंश मात्र (संकोच को भी), विगलित (खत्म) करने से अपने स्वरूप को प्राप्त (ज्ञान) होने से (वह) 'चितिर' (चित्स्वरूप अर्थात) चिति (भगवती) ही बन जाता है, और उसी चिन्मयी, परा अवस्था में प्रवेश करता है; यही इस (सूत्र) का अर्थ है।

अभी तक हम ने देखा है कि अपनी शक्तियों को अपनी ही इच्छा से संकुचित करके जीव भाव को प्राप्त होता है। जीव भाव में प्रधान तो भेद भाव है जिस से जीव को हर कोई वस्तु एक दूसरे से तथा अपने से अलग दिखती है। इस के अतिरिक्त जीव की चेतना बर्हिपर्दाथों की और होती है और वह विषय वासनाओं के पीछे भागता है और वह संसारी बनता है।

अतः विवेक संगत है कि परशिब इस संसार से मुक्त होने का तरीका यह है कि जीव उन सब पाशों को हटा ले जिन के कारण वह फसा है एवं अपने असली स्वरूप को जान ले। यही बात 13वों सूत्र में कही गयी है। अर्थात जिस क्रम से वह जीव भाव को प्राप्त हुआा है, उसी के उलटे क्रम से वह शिव भाव को प्राप्त हो सकता है। जीव भाव में मनुष्य बर्हिपर्दाथों की ओर लगा रहता है और उन में इतना लीन होता है कि उसे अपने वास्तविक स्वरूप का कोई ज्ञान नही होता है। यही अज्ञान, बन्धन का कारण है। अगर इस बन्धन को काटा जाये, अर्थात बर्हिमुख अवस्था से अन्र्तमुख अवस्था में आया जाये तो फिर से शिव भाव की प्राप्ति होगी। बर्हिमुख अवस्था में भेद व्यवहार होता है। अन्र्तमुख अवस्था में जाने से परम शिव अवस्था की प्राप्ति

होती है। यह अवस्था प्राप्त करने का तरीका है। कि ग्राहक भाव में ज
संकोच है उसको शैनः शैनः घटाना है, यहां तक कि अंश मात्र भी संकोच न
रहे जिस से अख्याति पूरी तरह से दूर ही जायेगी और वह अपने चिन्मय प
अवस्था को प्राप्त होगा। उदाहरण के लिये, जैसे सूंय के प्रकाश को अगर ए
समपार्शव (prism) में से जाने दिया जाये तो वह सात रंगों में छितर जाता
और वही सात रंगों का र्वण पट (spectrum) अगर एक उलटे समपार्शव
से जाने दिया जाये तो बाहर आया प्रकाश पूर्ववत होता है।

ननु यदि पारमार्थिकं चिच्छक्तिपदं सकलभेदकवलनस्वभावं, त
अस्य मायापेदऽपि तथा रूपेण भावितव्यं यथा जलदाच्छादि
स्यापि भानो भावावभासकत्वम। इत्याशङ्कय आह

यहां प्रश्न उठता है कि अगर परमार्थिक चितशक्ति पद (state) स
भेदों को ग्रास करने के स्वभाव का है तो माया पद (जीव अवस्था मे
भी यह ऐसा यही होना चाहिये। जिस तरह बादलों से छिपा हुआ हो
पर भी सूर्य, पर्दाथों को (अपने प्रकाश से) प्रकट (प्रकाशित) करता है
इसी शङ्का को दूर करने के लिये (अगला) सूत्र कहा है।

शङ्का यह है कि चित शक्ति का स्वभाव सभी भेदों को हटाना है और व
सिर्फ अभेद रूप हे तो जीव अवस्था में भी ऐसा ही रहनी चाहिये अर्थात जी
अवस्था में भी अभेद रूप ही होनी चाहिये। क्योंकि माया पद तो अन्ततः चि
शक्ति ही है जो तीन मलों से आच्छादित है। जिस तरह जब सूर्य चमकता
तो सारे पदार्थ प्रकाशित होजाते हैं और जब बादलों से वह ढक जाता है
भी (पूरा अन्धेरा नही होता है और) पदार्थ समूह प्रकाशित हो जाते है। अ
आच्छादित अवस्था में होने के बावजूद जीव अवस्था भी अभेद रूप हो
चाहिये। इसी शङ्का का 14वें सूत्र में किया गया है।

चिति वह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि
मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति ॥ १४ ॥

चिति रूपी अग्नि (चेतन पद से) नीचे उतर कर (वह अपने चि
स्वभाव को यदि) छुपाती भी है, (फिर भी, वह पूरी तरह से नह
अपितु) कुछ मात्रा में वेध रूपी ईन्धन को जलाती है।

यह सूत्र अब हमें उस वास्तविकता (उस पद, recently) के बारे में थोडा सा बताता है जिस से शिव नीचे आकर जीव भाव को प्राप्त होता है। उस परम पद में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण एक होते है। सूत्र हमें बताता है कि चिति भगवती जब जीव भाव को प्राप्त होती है, तो यद्यपि वह अपने चित स्वभाव को छुपाती भी है, परन्तु फिर भी कुछ मात्रा में वह चैतन्य भाव उस में रहता है। इसी चैतन्य पद को पाने को प्रयत्न में जीव लगा रहता है। क्योंकि शिव भाव में ही परमानन्द (परम सुख) है, इसी लिये जीव सुख के पीछे भागता फिरता है। संसारिक पर्दाथों का सुख क्योंकि रहता नही है, वह तो क्षण भर के पश्चात सामान्य लगता है। इसी लिये जीव एक सुख (आनन्द) से ऊब कर दूसरे सुख के पीछे भागता है। परन्तु वास्तविक सुख तो शिव अवस्था में ही है। और लेश मात्र में जो उस पद की स्मृति जीव को होती है, वही स्मृति उसे सुख अथवा आनन्द को ढूंढने में लगाती है।

जीव जिन पदार्थों के पीछे भागता है वह हमेशा एक ही नही रहते। बालक खिलोनों के चाहता है, यौवण में सुन्दर नारी तथा लोगों को चाहता है, बूढा होकर बान्धवों के मोह में फंसा रहता है अंथात जिन पर्दाथों से जीव को सुख मिलता है वह एक ही नही रहते। और सुख देने वाले वस्तुओं को ढूंढना तो जीव का स्वभाव है। इस का कारण है कि उस में लेश मात्र चैतन्य पढ की स्मृति होती है।

'चितिरेव' विश्वग्रसनशीलत्वात 'वह्नि'; असौ एवं 'अवरोहपदे' – मायाप्रमातृतायां 'छन्नोऽपि' – स्वातन्त्र्यात आछादितस्वभावोऽपि, भूरिभूतिच्छन्नाग्निवत् 'मात्रया' – अंशेन, नीलपीतादि प्रमेयेन्धनं 'प्लुष्यति' – स्वात्मसात करोति। मात्रा पदस्य इदम आकूतम् – यत् कवलयन् अपि सार्वात्मयेन न ग्रसते, आपि तु अंशेन संस्कारात्मना उत्थापयति। ग्रासकत्वं च सर्वप्रमातृणां स्वानुभवत एव सिद्धम। यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः निजस्तोत्रेषु

'वर्तन्ते जन्तवोऽ शेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविश्णवः
ग्रसमनास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्।।'
इति।। १४।।

'चितिरेव' (का अर्थ है चिति भगवती ही) जगत को ग्रास करने के स्वभा
वाली होने से 'वह्नि' अग्नि है। यही (चितिरूप) अवरोह पदे (अर्थात
अपनी स्वरूप से नीचे उत्तर कर जब माया प्रमाता (जीव) बन जाती
तो वह छन्नोपि अर्थात अपनी स्वातंत्रता से अपने (चित) स्वभाव
यद्यपि छिपाती भी है फिर भी जैसे बहुत सी राख के तले अग्नि छि
हो (उसी तरह) 'मात्रया' थोडी ही मात्रा में, अंश मात्र ही, नील पी
आदि पदार्थ समूह को (वेर्धो) ईंधन के रूप में 'प्लूष्यति' जलाती
अर्थात आत्म सात करती है (आत्म रूप बनाती है)। मात्रा शब्द से य
प्रयोजन है - कि (चिति) उस वेद्य को बिल्कुल अपने साथ एक्य कर
ग्रास करके खत्म नही करती है, अपितु किसी अंश से ही ग्रास कर
संस्कार रूप से उसे फिर से उत्पन्न करती है। ग्रास (करने का भा
किसे कहते है यह तो हर एक प्रमाता को अपने अनुभव से ही सि
है। जैसे श्री उत्पलदेव ने अपने स्तोत्रों में कहा है :
जितने भी जीव, यहा तक कि ब्रह्मा, इन्द्र और विणु भी (अपने ग्राह्य व
ग्रास करते है, इसी लिये मैं आपको, हे देव (शंकर) विश्व के रूप
नमस्कार करता है। (इस विश्व को जो आप का ही स्वरूप है, नमस्क
करता हूं)

चिति भगवती का स्वभाव, जगत को ग्रास करके आत्मय बनाना है, अतः उ
अग्नि कहा है। यही चितिरूप अग्नि जब जब स्वरूप से नीचे उतर कर मा
प्रमाता (जीव) बनती है, तो वह अपनी स्वतंत्रता से अपने चित्स्वभाव को यद्य
छुपाती भी है, परन्तु फिर भी थोडी सी मात्रा में ही सही, वह वेद्यरूपी ज
को आत्म रूप बनाती है। यहां पर नील पीलादि रूपी पर्दाथों को ईधन
उपमा देकर यह कहा गया है कि चितरूप अग्नि लेश मात्र उस ईंधन
जलाती हैं अर्थात आत्म रूप बनाती है। जैसे राख के तले अग्नि छिपी
उसी प्रकार जीव भाव में भी थोडी मात्रा में चैतन्य भाव रहता है। मात्रा श
से यह प्रयोजन है कि उस (नीत पीलादि) वेद्य को बित्कुल ग्रास करके सम

नही करती, अपितु किसी अंश से ग्रास करके उसे संस्कार रूप से फिर उत्पन्न करती है। जिस तरह लकडी को अगर जलाया जाये तो वह पूरी तरह समाप्त नही होती बल्कि कुछ राख बच जाती है, उसी तरह जीव भाव में यद्यपि आच्छादित चैतन्य रूप भगवती वेद्य रूपी जगत को आत्म सात तो करती है परन्तु संस्कार के रूप से फिर उत्पन्न करती है।[1] पदार्थों को ग्रास करने वाला स्वभाव तो हर एक प्रमाता को अपने अनुभव से सिद्ध है।

यही बात श्री उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावली के सूत्र 20 श्लोक 17 में कही है कि हर कोई जीव, यहां तक कि ब्रह्मा इन्द्र तथा विष्णु भी अपने अपने ग्राह्य को ग्रास करते है, और आप (आत्म रूपी परम शिव) का ग्रास्य तो पूरा विश्व ही है जिसे वह ग्रास करता है, अतः यह विश्व आप का ही स्वरूप है। इसी लिये हे देव (शंकर) में आप के इस विश्व रूप को नमस्कार करता हूं।

(1) For every individual, this objective world is what he experiences, and experiences of every individual are unique and personal. These experiences are retained as impressions within to rise again - this is संस्कार।

देखिये

'यथा न तोयतो भिन्नस्तरङ्गा फेनबुदबुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्म विर्निगतम्।।'

(अश्टावक्रगीता २ – ४)

जिस तरह तरंग और फेन जल से भिन्न नही है क्यो कि जल उन सब का उपादान कारण है, वैसे ही विश्व आत्मा से उत्पत्र है अर्थात इस का उपादान कारण आत्मा ही है।।

यदा पुनः करणेश्वरी प्रसर संकोचं संपाद्य सर्गसंहार क्रम परिशीलन युक्तिम् आविशति तदा....

जब (साधक) फिर से इन्द्रिय देवियों के प्रवाह (बर्हिमुखता) को संकुचित (अन्तर्मुख) करके सृष्टि और संहार के क्रम के अभ्यास की युक्ति से अन्दर जाता है, तब (इस से क्या होता है वह अगले सूत्र में कहा है)

पिछले सूत्रों में हम ने देखा है कि अपने स्वरूप को जानने का सरल तरी
यह है कि जीव सचेत ही जाये कि वह भी पंच कृत्य करता है। इस से
चिति के साथ एक्य हो जाता है। इसी बात को अब यहां पर फिर से ब
जा रहा है, और ऐसा करने से क्या होता है वह अगले सूत्र में बताया
है।

जीव इस लिये संसार से बन्धा है क्योंकि वह विषयों के पीछे
हुआ है[1] और उन विषयों का वह इन्द्रियों (5 sense organs) से है। उ
इन्द्रियों को जब वह संकोच में लाता है, विषयों के पीछे न जाकर इन्द्रियों
समेट लेता है। अर्थात जब जीव इन्द्रिय देवियों के प्रसर को संकोच में ल
है (5 sense organs) की जो शक्ति है उनकी बर्हिमुखता को संकु
करता है, अर्न्तमुख करता है (अर्थात पहिले यह साधक बर्हिमुख होकर स
की सृष्टि करता है और फिर अपने अन्दर लाकर अपने साथ फिर से
करता है) और जब इस सृष्टि और संहार के क्रम[2] को अभ्यास की पूरी त
प्रवीणता प्राप्त कर लेता है, और फिर वस्तुनिष्ट अस्तित्व (object
existance) की सृष्टि और संहार करने की स्थिति (पद) पर आ जाता
तब ...... (उसे क्या होता है वह अगले सूत्र में कहा है)

(1) कुछ ऐसा ही अष्टावक्रगीता प्रकरण 15 श्लोक 2 में कहा है :
मोक्षो वियवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः
एतावदेव विज्ञानं यथच्छसि तथा कुरू।।
विषयों से वैराग्य मोक्ष है, विषय सम्बन्धी रस–बन्ध है। इतना ही ज्ञान है–जैसे च
वैसाकरो।

(2) साधारण शब्दों में सृष्टि तथा संहार क्रम के अभ्यास को प्राण अपाण अ
प्राणायाम का अभ्यास भी कह सकते है।

बललाभे विश्वमात्मसात्करेति ॥ १५ ॥

अपने (चित) बल को प्राप्त हो जाने पर वह सारे जगत को अपने स
आत्म सात करता है।

सृष्टि संहार के क्रम से अभ्यास करने से साधक को चित बल प्राप्त होता
इस से उसको इस बात का अनुभव होता है कि सारा विश्व उस से अ
नही है अर्थात उसी का स्वरूप है। इसी को आत्म सात करना कहते है

यह अनुभव करने पर कि सारा विश्व मेरा ही रूप–स्फार है, जीव अपने वास्तविक चित रूप को पहचानता है और चिति भगवति की जो शक्तियां है, वह फिर से जीव प्राप्त कर लेता है इसी को चित बल की प्राप्ति कहते है।

चितिरेव देहप्राणाद्याच्छादन निमज्जनेन स्वरूपम उन्मग्नत्वेन स्फारयन्ती बलम् ; यथोक्तं 'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा ....।' इति। एवं च 'बललाभो'–उन्मग्नस्वरूपाश्रयणो, क्षित्यादि–सदाशिवान्तं 'विश्वम आत्मसात् करोति'– स्वस्वरूपाभेदेन र्निभासयति। तदुक्तं पूर्वगुरुभिः स्वभाषामयेषु क्रमसूत्रेषु

'यथा वह्निरुद्बोधितो दाह्यं दहति,
तथा विषयपाशान भक्षयेत्'

इति।

चिति शक्ति ही शरीर, प्राण आदि के जो आच्छादन है उन सब को दबा कर, और अपने असली स्वरूप को प्रकट रूप से विकसित करने के कारण, बल है (अर्थात चिति ही बल है) – जैसा कहा है

उस (चिति शक्ति) को पकडने से (उस के सहारे) ही मन्त्र को बल मिलता है।

इसी प्रकार, (साधक) बल को प्राप्त करके (जो चिति का पार्मार्थिक स्वरूप के प्रकट होने से मिलता है) तो पृथ्वी तत्व से सदाशिव तत्व तक अर्थात सारे विश्व से अभेद (अभिन्न) देखता है। जैसे कि पुरातन आचार्यो ने अपने विर्मश पूर्ण क्रमसूत्रों में कहा है।

जिस प्रकार चमकाई हुई अग्नि, जो भी पर्दाथ जलने के लायक हो (लकडी आदि) उन को जलाती है, उसी तरह (साधक को) विषय रूप बन्धनों को ग्रास करना चाहिये (अर्थात चिदग्नि से जला कर सारे विश्व को आत्म रूप बनाना चाहिये)

शरीर, प्राण आदि सब आत्मा (वास्तविक स्वरूप) को छिपाने वाले आवरण हैं। इन आवरणों को चिति शक्ति ही हटा सकती है और ऐसा होने पर वास्तविक

चितस्वरूप प्रकट होता है, क्योंकि यह विकास चिति के कारण होता है इ
लिये चिति ही बल है। अर्थात स्वात्म स्वरूप जब प्रकट भाव से उल्लास
आता है (जब 3 मल दूर हो जाते है) तो चिति भगवती अपने वास्तवि
स्वरूप, चिति बल के रूप में प्रकट करती है। यही बात स्पन्द कारिका में क
गई है कि मंत्र का बल चित बल के सहारे ही है।
और जब चिति का पारमार्थिक स्वरूप प्रकट होने से साधक को बल मिल
है, वह सारे विश्व को अपने से अभिन्न देखता है। यह तो स्वाभाविक ही है
जब जीव का क्रमिक विकास होता है तो विवेक तथा बुद्धि रूपी अग्नि तीव्र
से प्रज्वलित होती है जिस से भ्रम रूपी लकडी भस्म होती है। जीव में
शिव भाव की अर्थात चिति शक्ति की चिंगारी है उसी को फूंक फूंक
ज्वाला में बदलना है। यही स्पन्द कारिका में कहा गया है, जहां यह स्प
किया गया है कि ऐसा करने के लिये विषय रूपी बन्धनों (objects
sense experience) को ग्रास करना है। इसी सम्बन्ध में अष्टावक्र गीता
कहा है।

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेछसि तथा कुरु।।

(अध्याय १५, श्लोक

विषयों से वैराग्य मोक्ष है, विषयसम्बन्धी रस, बन्ध है। इतना ही ज्ञान है
जैसे चाहो वैसा करो।
शब्द दो प्रकार के है – एक जो किसी अर्थ को अवगत करोने के लि
उच्चारित किया जाता है, और दूसरा जो अन्तःर्कण में अर्थ का भाव स्फ
करने वाला शब्द है। इसी दूसरे को स्फोट कहते है। स्फोट जिससे
स्फुटित हो। अर्थ का सफुरण स्पन्दन से होता है तथा स्पन्दन (कम्
नादसहकारी है। अतः कम्पन (स्पन्दन), शब्द रूप ही है। इसी चैतन्य शब्द
समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है अतः यह शब्द ब्रहम है। यही मन्त्र का
स्वरूप है। मन्त्र के अर्थ में मन्त्र, देवता व गुरु का एक्य है। मन्त्र समस्त स
का मूल एवं चैतन्य स्वरूप है। इन्ही गुणों को मन्त्र का बल कहते है।
जब मन्त्र के प्रति साधरण शब्द भाव न रहै, अपितु ब्रह्म भाव जाग्रत हो,
मन्त्र चैतन्य के रूप में स्फुरित होने लगता है।

न चैवं वक्तव्यम — विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कादाचित्की, कथम उपोदया इयं स्यात् इति ; यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन इदम अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति। वस्तुतस्तु चितस्वातन्त्र्यावभासितदेहाद्युन्मज्जनात एव कादाचित्कत्वम्। एषा तु सदैव प्रकाशमाना; अन्यथा तत् देहादि अपि न प्रकाशेत। अतः एव देहादि प्रमातृताभि– माननिमज्जनाय अभ्यासः, न तु सदा प्रथमानता सारप्रमातृता– प्राप्तर्यथम।

इति **श्री प्रत्यभिज्ञाकाराः ।। १५ ।।**

यह कहना उचित (युक्त) नही है कि जगत को अपने स्वरूप के साथ सात्कार जानने वाली जो समावेश अवस्था है वह किसी समय बनती है (momentary) तो उसे किस तरह पकडा जा सकेगा। क्योंकि शरीर आदि आवरणों के प्रध ान या अप्रधान होने के कारण यह (समावेश अवस्था) कभी ही प्रकट होती है ऐसा आभास होता है। (वास्तव में) यह (समावेश अवस्था) सदा ही प्रकाशमान है। अगर ऐसा न होता तो वह शरीर आदि भी प्रकाशमान (प्रकट) न हो सकते। इस लिये शरीर आदि पर अहन्ता के अभिमान को दूर करने के लिये ही अभ्यास करना चाहिये न कि उस सचे प्रमाता भाव की प्राप्ति के लिये जिस का स्वरूप नित्य प्रकाशमान रहता है। ऐसा श्री ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के लेखक (श्री उत्पल देव) ने कहा है।

यहां पर यह शङ्का उत्पण इोती है कि जब साधक सारे जगत को अपने से अभिन्न देखने की अवस्था में आता है (इस अवस्था को समावेश अवस्था कहते है) तो क्या वह अवस्था क्षणिक एवं अस्थायी होती है? और अगर ऐसा है तो उस अवस्था को कैसे स्थायी बनाया जा सकता है। यहां पर यह कहा गया है कि जीव तो वास्तव में स्वात्मरूपी शिव ही है अतः उस से अलग होने का तो प्रश्न उठता ही नही है। अर्थात सभावेश अवस्था तो सदा प्रकाशमान है साधक को ऐसा न लगने का कारण शरीर प्राण आदि आवरण है।

अतः साधक को शरीर प्राण आदि का अभिमान ही हटाना चाहिये ताकि उसे वास्तविक सत्य का ज्ञान होजाये। प्रमाता भाव (शिव भाव) को

ढूढने की आवशकता नही है क्योंकि जीव तो शिव है ही, शरीर देह अभिमा
के कारण वह यह सत्य भूल गया है। अतः शरीर आदि पर जो अहन्ता है उस
को हटाना है। इसी संदर्भ में शिव सूत्र में कहा है – 'ज्ञानं बन्धः' (सूत्र 2) तथ
'योनिर्वगः कलाशरीरम' (सूत्र 3) = अनात्मा को ही आत्मा जानना बन्धन
एवं, भेद प्रथा की हेतु माया प्रपञ्च ही बन्धनं हेतु है।
शैव दर्शन की यही विशेषता है कि परमर्थ प्राप्ति के लिये कुछ करने
आवश्यकता नही है, श्री पञ्चस्तवी के स्तव 3 श्लोक ५ में कहा है।

रेमूढा किमय वृथैव तपसा कायः परिक्लिश्यते ....
जीव तो मूलतः शिव है, केवल त्रिमलों के कारण यह बात भूल गया है। केव
इसी बात को विवेक एवं विर्मष ज्ञान से समझना है, जब यह पता चलेगा
अपना खोया हुआ वैभव फिर से आजायेगा। कवल भेद भाव, (मैं और
विश्व भिन्न २ है) को हटाना है, देहभिमान (मैं शिव नही बल्कि यह देह हू)
मिटाना है, एक बार ऐसा होगया तो जीव अपने मूल स्वरूप अंथात शिव भ
को प्राप्त होगा। देखिये

कूटस्थं बौधमद्वैतमात्मानं परिभावयः
आभासोहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम।।

(अष्यटावक्रगीता 1–1

हे राजन मैं आभास हू, मैं अंहकार हूं, इस का त्याग करके और जो बाहर
पर्दाथों में ममता हो रही है कि यह शरीर ही में हूं, यह मेरा शरीर है, इन
में 'अहं' और 'मम' भावना का त्याग करके और अन्तःर्कण के जो सुरव दुख
है, उन में जो अहं भावना हो रही है, उसका त्याग करके, आत्मा के अक
असंग, ज्ञान स्वरूप अद्वैत और व्यापक निश्चय करो,
जब अभिमान हट जाता है और जीव को हर कोई वस्तु आत्मा स्वरूप
दिखती है तो वह शिव भाव को प्राप्त होता है। इसी अवस्था के बारे
शिवस्तात्रावली में श्री उत्पलदेव कहते है।

निशब्दं र्निवकल्पं च निर्व्याक्षेपमथानिशम।
क्षोभेऽप्यध्यक्षमीक्षेंय त्र्यक्ष त्वामेवर्सवतः।। (12–1

एवं च

चिदानन्दलाभे देहादिशु चेत्यमानेश्वपि चिदैकात्म्य, प्रतिपत्ति दाढर्य जीवनमुक्तिः ।। १६ ||

और (Besides)

चित और आनन्द के प्राप्त होने पर शरीर आदि वेद्यों के प्रकट रहने पर भी चित् (संवित) के साथ एकता का दृढ आभास होना ही जीवनमुक्ति है।

पन्द्रहवें सूत्र में यह बताया गया कि साधक को जब चित लाभ होता है तो उसे सारा विश्व अपने से अभिन्न नही अपितु अपना ही स्वरूप लगता है। साध क को अपना शरीर आदि भी आत्मस्वरूप शिव से अभिन्न लगते है। साध ारणतः देह आदि के अभिमान से जीव को यह सारा विश्व अपने स्वरूप (आत्म स्वरूप शिव) से भिन्न लगता है तो जीव फिर से अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होकर संसार के बन्धनों से छूट जाता है। देहधारी हो कर भी ऐसा योगी हमेशा अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान में निमग्न होता है ऐसी ही योगी को जीवनमुक्त कहते है – अर्थात संसार में रहते हुये भी वह मुक्त होता है। ऐसा जीव साधारण मनुष्य, जैसा ही होता है, परन्तु हर समय उसे अपने शिव होने का ज्ञान रहता है।

परम शिव अवस्था तक पहुचना एक प्रगतिशील क्रम (progressive process) है। आत्मस्वरूप की झलक तो साधक को साधना के पथ पर चलने से मिलती ही है, परन्तु यह सत्य फिर से ओझल हो जाता है, जब वह संसार के कामों में लिप्त होता है। जीवन मुक्त योगी को अपना आप शिव से अभिन्न हर समय लगता है। इसी बात को समझाने के लिये सूत्र में दार्ढयं शब्द के साथ दृढता से (inevasible) एक्य होना है।

विश्वात्मसात्कारात्मनि समावेश रूपे 'चिदानन्दे लब्धे' व्युत्था दशायां दलकल्पतया देह प्राणनीलसुखादिषु आभासमानेषु अ यत्समावेशसंस्कारबलात् प्रतिपादयिष्यमाण–युक्ति क्रमोपबृंहित 'चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यम' – अविचला चिदेकत्वप्रथा, स 'जीवन्मुक्ति' :– जीवतः प्राणान् अपि धारयतो मुक्ति प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूप–विद्रावितशेषपाशराशित्वात्। यथो स्पन्दशास्त्रे

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।।'

इति ।। १६ ।।

विश्व को अपने स्वरूप से सात्कार करके समावेश रूपी चित औ आनन्द को प्राप्त होने पर, व्युत्थान की अवस्था में भी जहां पर (जि अवस्था में साधक को) जिस तरह म्यान (कोश) में तलवार रखी भिन्न लगती है उसी तरह देह, प्राण आदि और नील पील आदि (पर्दा से) तथा सुख दुख के कारण यदपियह विश्व अगरचि अपने से भि देखता है (फिर भी) उसी समावेश के संस्कार के बल से आगे सिद्ध कि जाने वाली युक्तियों के क्रम से बडा कर, चित के साथ एक्य भाव दृढता होती है अर्थात चित के साथ अटल एकता का आभास होती यही जीवनमुक्ति है। (जिसको यह अवस्था बनी हो) वह जीवित रह क भी, प्राण आदि को धारण किये हुये भी मुक्त होता है। क्योंकि अच्छे तरह से अपने असली स्वरूप को जानने से, (और मलों को) धो क (विषय रूपी) फांसियों को हटाने से ही मुक्ति मिलती है। जैसा कि स्प शास्त्र[1] में कहा है।

जिस पुरूश को यह ज्ञान हुआ है कि सारा जगत उसकी अप ही संवित शक्ति का क्रीडा भाव है वह अपने स्वरूप में समाहित है व जीवन मुक्त है, इस में कोई संशय नही है।

पछले (15) स्तोत्र में यह कहा गया कि चितिबल को प्राप्त करने से साधक विश्व को अपना ही स्वरूप समझता है। और ऐसा होने पर उसे चित ए

ानंद की प्राप्त होती है। इसी अवस्था को समावेश कहते है। अभ्यास तथा
छ और युक्तियों से शनै शनै जीव शिव भाव को प्राप्त होता है। उस परम
वस्था तक पहुंचते पहुंचते वह जिन अवस्थाओं से गुज़रता है उन में उसे
रम सत्य का पता तो चलता है परन्तु शिव के साथ एक्य वाली अवस्था में
ह हमेशा नही रहता, ऐसी अवस्था को व्युत्थान कहते है। व्युत्थान की
वस्था में साधक को देह, प्राण, सुख, दुख एवं दूसरे नील पील पर्दाथ अपने
उसी तरह अलग लगते है, जिस तरह म्यान में रखी हुई तलवार, म्यान से
लग लगती है, परन्तु परम अवस्था में यह सारा विश्व, इस के पर्दाथ यहां
क अपना देह भी साधक को उसी आत्म स्वरूप शिव का रूप ही दिखता
। ऐसे ही साधक को जीवनमुक्त कहते है। भेद भाव एवं अहंकार, जो भ्रम
त्पन्न करने के कारण है वह पूर्णतः समाप्त हो जाते है। ऐसे योगी को जिसे
ह अवस्था प्राप्त हो जाती है वह तो शिव भाव को प्राप्त होते हुये भी शरीर
 जो धर्म है उन को उसी तरह से पालता है जैसे एक साधारन मनुष्य।

जीवन मुक्त होना किसी नये लोक में जाना नही है। यह चेतना की
ह अवस्था है जहां पर हर कोई वस्तु जो इस सृष्टि में है उस में आत्म
वरूप शिव का ही स्फार लगता है। देह धारी होते हुये भी वह जीवन मुक्त
ोगी अपने शरीर को ऐसे ही पालता है जैसे एक साधारण मनुष्य, वह खाता
ीता है, सोता है आदि, परन्तु हर समय उसे अपने शिव रूप होने का पता
हता है।

साधारणतः परम शिव के दो पहलू है – चित तथा आनन्द। परन्तु यहा कहा
जा रहा है कि साधक को चित तथा आनन्द का लाभ होता है। कारण यह
है कि जीव तो सत है ही अतः सत को प्राप्त करने का प्रश्न नही उठना है।
ीन मलों के कारण उस अपना मूल स्वरूप मूल गया है। मूल स्वरूप का
ज्ञान होने से उसे चित तथा आनन्द की प्राप्ति होती है।
जीवन मुक्त अवस्था के बारे में अष्टा वक्र गीता में गया है।

पश्यश्रृण्वन स्पृशज्जिघ्रन्नश्नन् ग्रहल वदन व्रजन।
ईहितानीहितैर्मुक्त मुक्त एव महाशयः।। (17–12)

ो आत्म ज्ञान को उपलब्ध होगया हो, वह जीवन मुक्त है। ऐसा पुरुष सभी
ार्यों को स्वाभाविक रूप में करता हुआ उनमें लिप्त नही होता है, कर्तापन
 बारे में शिवस्तोत्रवली श्लोक (12–21) देखिये

शतशः किल ते तवानुभावाद् भगवन्केऽप्यमुनैव चक्षुषा ये।

अपि हालिक चेष्टया चरन्तः परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाग्रे।।

हे भगवान! कुछ विरले जीव जिनपर आपकी कृपा होती है, वह साधार किसानों का काम करने हुये भी (हल चलाते हुये), इन आंखों से आप स्वरूप हर समय देखते है, अथात साधारण काम करते हुये भी समावेश रहते है।

(1) स्पन्द शास्त्र : 2 नि॰ 5 का. ; स्पन्दर्निणय श्लोक 14

अथ कथं चिदानन्दलाभो भवति ? – इत्याह

इसके बाद (अब प्रश्न करता है) कि (साधक को) चिदानन्द की प्रा कैसे होती है, इस का उत्तर अगले सूत्र (No. 17) द्वारा कहते है।

अब तक यह बताया गया कि चिदानन्द के लाभ से (साधक) अपने आ स्वरूप को प्राप्त हेता है (मुक्ति प्राप्त करता है); अब अगले सूत्र में यह बता जा रहा है कि चिदानन्द (का लाभ) कैसे प्राप्त किया जाता है।

मध्य विकासाच्चिदानन्द लाभः ।। १७ ।।

मध्य नाडी (संवित) के विकास से चित आनन्द का लाभ होता है।

मध्य नाडी 'सुषुम्णा' नाडी को कहते है। यह हृदय के मध्य में रहती है। य कमल नाल में विद्यमान अत्यत्त सूक्ष्म तन्तुओ के समान होती है। इसी म नाडी में चिदाकाश रूप शून्य का निवास है। उस से प्राण शक्ति निकलती उसी मध्य नाडी में स्थित चिदाकाश[1] का ध्यान करने से साधक के हृदय 'शिव' भाव प्रकाशित होता है, अर्थात 'संवित' शक्ति का विकास होता है अर्थ साधक अपने वास्तविक रूप को जान लेता है।

(1) मध्य नाडी की सहायता से ही साधक चिदाकाश में प्रविष्ट होता जिस से प्राण एवं अपान सुषुम्णा में अपने आप ही विलीन हो जाने हैं। देखिये मध्यनाडी मध्य संस्था बिससूत्राभरूपया

ध्याताऽ त्तर्थैमया देव्या तया देवः प्रकाशते
(विज्ञान भैरव–35)

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुदरूपा विकासिते
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरव रूपता
(विज्ञान भैरव–26)

र्वान्तरतमत्वन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नतां बिना च कस्यचित् अपि स्वरूपानुपपत्ते संविदेव भगवती 'मध्यम'। सा तु मायादशायां थभूतापि स्वरूपं गूहयित्वा

'प्राक संवितप्राणे परिणता'

ति नीत्या प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धि देहादिभुवम् अधिशयाना, नाडी सहस्त्रसरिणम अनुसृता।

ब (र्सस्व) के अन्दर ही अन्दर पिरोये हुये होने के भाव से प्रवर्तन होने के कारण, उसी (संवित) की भित्ति (आधार) के साथ लगने वाले भाव के बिना किसी भी (प्रमाता या प्रमेय) के स्वरूप के न सिद्ध होने के कारण संवित भगवती ही मध्य, कहलाती है। वही (संवित) माया दशा (जीव दशा) में भी ऐसी ही रहती है परन्तु अपने स्वरूप को छुपा कर।

सब से पहिले संवित प्राणों के रूप में परिवर्तित (परिणित) होती है।'

इस नीति के अनुसार प्राण शक्ति की भूमि को अंगीकार (स्वीकार) करके अवरोह क्रम (चित आनन्द से नीचे उतरने से स्थूलता ग्रहण करके) से बुद्धि, शरीर आदि अवस्थाओं को ग्रहण करती हुई हज़ारों नाडियों में व्याप्त हो जाती है।

संवित शक्ति इस विश्व के हर किसी अंश (या खण्ड) के अस्तित्व का कारण है। बाह्य हो या भीतरी, संवित ही इस जगत को सत्ता देती है, अर्थात संवित हर किसी अणु में पिरोयी हुई है, एवं संवित ही वह भित्ति है जिस पर यह सारा विश्व स्वरूप लेता है। जिस में संवित शक्ति रुपी सत्ता न हो उसका अस्तित्व

अपि हालिक चेष्टया चरन्तः परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाग्रे।।

हे भगवान! कुछ विरले जीव जिनपर आपकी कृपा होती है, वह साधार किसानों का काम करने हुये भी (हल चलाते हुये), इन आंखों से आप स्वरूप हर समय देखते है, अथात साधारण काम करते हुये भी समावेश रहते है।

(1) स्पन्द शास्त्र : 2 नि॰ 5 का. ; स्पन्दर्निणय श्लोक 14

अथ कथं चिदानन्दलाभो भवति ? – इत्याह

इसके बाद (अब प्रश्न करता है) कि (साधक को) चिदानन्द की प्रा कैसे होती है, इस का उत्तर अगले सूत्र (No. 17) द्वारा कहते है।

अब तक यह बताया गया कि चिदानन्द के लाभ से (साधक) अपने आ स्वरूप को प्राप्त हेता है (मुक्ति प्राप्त करता है); अब अगले सूत्र में यह बता जा रहा है कि चिदानन्द (का लाभ) कैसे प्राप्त किया जाता है।

मध्य विकासाच्चिदानन्द लाभः ।। १७ ।।

मध्य नाडी (संवित) के विकास से चित आनन्द का लाभ होता है।

मध्य नाडी 'सुषुम्णा' नाडी को कहते है। यह हृदय के मध्य में रहती है। य कमल नाल में विद्यमान अत्यत्त सूक्ष्म तन्तुओ के समान होती है। इसी मध्य नाडी में चिदाकाश रूप शून्य का निवास है। उस से प्राण शक्ति निकलती है उसी मध्य नाडी में स्थित चिदाकाश[1] का ध्यान करने से साधक के हृदय 'शिव' भाव प्रकाशित होता है, अर्थात 'संवित' शक्ति का विकास होता है अर्था साधक अपने वास्तविक रूप को जान लेता है।

(1) मध्य नाडी की सहायता से ही साधक चिदाकाश में प्रविष्ट होता जिस से प्राण एवं अपान सुषुम्णा में अपने आप ही विलीन हो जाने हैं। देखिये मध्यनाडी मध्य संस्था बिससूत्राभरूपया

ध्याताऽ त्तर्येमया देव्या तया देवः प्रकाशते

(विज्ञान भैरव–35)

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुदरूपा विकासिते

निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरव रूपता

(विज्ञान भैरव–26)

सर्वान्तरतमत्वन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नतां बिना च कस्यचित् अपि स्वरूपानुपपत्ते संविदेव भगवती 'मध्यम'। सा तु मायादशायां तथभूतापि स्वरूपं गूहयित्वा

'प्राक संवितप्राणे परिणता'

इति नीत्या प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धि देहादिभुवम् अधिशयाना, नाडी सहस्त्रसरिणम अनुसृता।

सब (र्सस्व) के अन्दर ही अन्दर पिरोये हुये होने के भाव से प्रवर्तन होने के कारण, उसी (संवित) की भित्ति (आधार) के साथ लगने वाले भाव के बिना किसी भी (प्रमाता या प्रमेय) के स्वरूप के न सिद्ध होने के कारण संवित भगवती ही मध्य, कहलाती है। वही (संवित) माया दशा (जीव दशा) में भी ऐसी ही रहती है परन्तु अपने स्वरूप को छुपा कर।

सब से पहिले संवित प्राणों के रूप में परिवर्तित (परिणित) होती है।'

इस नीति के अनुसार प्राण शक्ति की भूमि को अंगीकार (स्वीकार) करके अवरोह क्रम (चित आनन्द से नीचे उतरने से स्थूलता ग्रहण करके) से बुद्धि, शरीर आदि अवस्थाओं को ग्रहण करती हुई हज़ारों नाडियों में व्याप्त हो जाती है।

संवित शक्ति इस विश्व के हर किसी अंश (या खण्ड) के अस्तित्व का कारण है। बाह्य हो या भीतरी, संवित ही इस जगत को सत्ता देती है, अर्थात संवित हर किसी अणु में पिरोयी हुई है, एवं संवित ही वह भित्ति है जिस पर यह सारा विश्व स्वरूप लेता है। जिस में संवित शक्ति रुपी सत्ता न हो उसका अस्तित्व

हो ही नही सकता। इसी लिये संवित भगवती को मध्यम कहते है। पशू द
(जीव दशा) में भी यह संवित ऐसी ही रहती है, परन्तु अपने स्वरूप को छुपा
है।[2] यही संवित शक्ति सब से पहिले प्राण रूप बनती है। प्राण में परिवर्ति
होकर, (अपनी स्वेच्छा से अपने परम पद से नीचे उत्तर कर) स्थूल भाव ग्रह
करके क्रम से बुद्धि शरीर आदि अवस्थाओं को ग्रहण करती है और सह
नाडिया के रास्ते चलती रहती है।

1) संवित शक्ति ने विश्व वैचित्र्य का अवभासन करने की से पहले प्राण को निमि
बनाया अर्थात संवित शक्ति सर्वप्रथम प्राण में परिवर्तित होती है। इसी लिये जब साध
प्राण पर ध्यान **(meditate)** करता है तो प्राण फिर से संवित रूप लेता है। गुरु
दीक्षा और निंदशेन से, साधक प्राणयाम (प्राण अभ्यास) से भीतर जाकर संवित से एक्य
जाता है। यह परिवर्तन उसी प्रकार का होता है जैसे दूध, दही में परिवर्तित होता है। प्र
के संवित में परिवर्तित होकर ही साधक को यह सारा जगत चैतन्य स्वरूप लगता है
2) जिसतरह एक राजा जिस के पास सारे प्रकार के वाहन आदि होते हैं, अप
इच्छा से पैदल चलता है, उसी तरह संवित भगवति भी स्वेछा से ही परिमत प्रमाता के
आदि भूमि (अवस्था) को स्वीकार करती है।

तत्रापि च पलाशर्पणमध्यशाखान्यायेन आ ब्रहमरन्ध्रात अ
ोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्ति ब्रहमाश्रयमध्यनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थि
; तत एव सर्ववृत्ती नाम उदयात, तत्रैव च विश्रामात। ए
भूतापि एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता। यदा तु उक्तयु
क्रमेण र्सवान्तरतमत्वे मध्यभूता सविद्भगवती विकसति, यदि व
वक्ष्यपाणक्रमेण मध्यभूता ब्रहमनाडी विकसति, तदा तद्विकासा
चिदानन्दस्य उक्तरूपस्य लाभः प्रार्प्तिथवति। ततश्च प्रागु
जीवनमुक्ति ।। १७।।

वहां भी प्लाश वृक्ष के पत्ते की बीच वाली लकीर (डंडी – **mid ribe**) की तर
ब्रहमरन्ध्र से मूलाधार तक प्राण शक्ति के आश्रय बने मध्य (सुषम्ना) नाडी
रूप प्रधान्यता से स्थित है। (क्योंकि) सभी वृत्तियां वही से उदित होती है औ
उसी में लीन भी हो जाती है। ऐसा होते हुऐ भी यह (मध्य नाडी) प
प्रमाताओं (शरीर धारियों) में सोये हुये (छिपे हुये) स्वरूप से स्थित है। ज

कहे हुये युक्तिके क्रम से सब के बीच में उनका सार बनी हुई ब्रहम नाडी (संवित शक्ति) विकासत हो जाती है (अपना स्वरूप प्रकट करती है), या जब आगे बताये जाने वाले क्रम से मध्य नाडी विकसित होती है तब उस के विकसित हो जाने से कहे हुये चिदानन्द की प्राप्ति होजाती है। फिर अब तक कहे हुये तरीके से जीवन मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

नाडी चक्रर में नाडियों की संख्या 72000 बताई गई है। संवित शक्ति अपनी स्वेच्छा से संकोंच ग्रहण करके सारे विश्व में प्राण -शक्ति को ग्रहण कर ग्राह्य रूप जगत में मासमाप होती है। और इन नाडियों में संचार करती है। नाडियों में प्रधान तीन नाडियां इडा, पिंगला तथा सुषम्णा है। इन में भी, संवित शक्ति सुष्मणा नाडी के रूप में प्रधान्यता से स्थित है। जिस तरह एक प्लाश वृक्ष का पत्ता, बीच की लकीर (mid rib) पर आधन्यता है, उसी तरह जीव में यह सुष्मणा नाडी ब्रहमरन्ध्र से मूलाधार तक ब्रह्मा के आश्रय रूप, स्थित है। सभी वृत्तियां वही से उदित होती हे और उसी में लीन होती है। पशु प्रमाता में यह मध्य नाडी विकसित नही होती है अर्थात जीव को यह बात पता नही होती है कि उसी की संवित शक्ति सर्स्व का आधार है। परन्तु जब इस मध्य नाडी का विकास होता है, यह अपना स्वरूप प्रकट करती है तब जीव को चिदानन्द का लाभ होता है और वह साधक जीवन मुक्त हो जाता है।

प्राण सम्बन्ध की अवधि तक ही शरीर कञ्चुक ठहरता है। प्राणों के चलने से जीव कर्मो का पाश बनता है और फिर उन कर्मों से प्रारब्ध बनते है और उनके भोगने के लिये फिर से शरीर उत्पन्न होता है। नाडी चक में प्रधान इडा; पिंगला एंव सुषम्ण में जो कुटिल वाहिनी प्राण शक्ति (Kundalini) है उसकी आन्तरी संवित के अर्न्तगत मध्यधाम में अनुसन्धान करने से साधक स्वात्म -सविम्मय बन जाता है। ऐसी दशा मे योगी अर्न्तमुख और बहिर्मुख सब दशाओं में स्वरुप विमर्शमान रहता है। इसी को समावेश कहते हैं। व्युत्थान की दशा में भी वह योगी स्वरुप में समाहित रहता है।

मध्य विकासे युक्तिमाह

विकल्प क्षय – शक्ति संकोच विकास वाह च्छेदाद्यन्त–कोटि निभालनादय इहोपाया:।। १८।।

अब मध्य नाडी (संवित) के विकास की युक्ति कहते हैं। (मध्य विकास उपाय 9 प्रकार के हैं)

1) विकल्पों का सर्वथा हटाना
2) शक्तियों का संकोच में लाना
3) शक्तियों का विकास
4) शक्तियों का संकोच तथा विकास
5) प्राण वायु का छेद करना
6) आदि कोटि का अभ्यास
7) अन्त कोटि का अभ्यास
8) आदि कोटि और अन्त कोटि का अभ्यास तथा
9) और भी जैसे उन्मीश तथा रमनीय विषयों का स्वाद लेना। यह प्रकार सवित (मध्यनाडी) के विकास के लिये उपाय है।

इस सूत्र में पिछले सूत्र (No.17) में कही हुई बात को विस्तार कहा गया है कि मध्य विकास जिस से चिदानन्द का लाभ होता है उसे कै प्राप्त किया जा सकता हैं। इस के कई तरीके हैं। जिन्हें एक एक करके आ विस्तार पूर्वक बताया गया है।

'इह' मध्य शक्ति विकासै 'विकल्पक्षयादय उपाय:'। प्रागुपदिष्ट-पञ्चविधकृत्यकारित्वाद्यनु सरणेन सर्वमध्य भूताया: संविद विकासो जायते–इति अभिहितप्रायम्। उपायान्तरम् अपि उच्यते। प्राणायाम–मुद्राबन्धादिसमस्तयन्त्रण तन्त्र त्रोटनेन सुखो पायमेव, हृदये निहितचित्त:, उपयुक्तया स्वस्थिति–प्रतिबन्धं

विकल्पम अकिंचिच्चिन्तकेत्वेन प्रशमयन्, अविकल्पपरामर्शेन देहाद्यकलषुस्वचित्प्रमातृतानि भालन – प्रवणः, अचिरादेव उन्मिषद्विकासां तुर्य – तुर्यातीत समावेशदशाम आसादयति। यथोक्तम्

'विकल्पहानेनैकाग्रयात्क्रमेणेश्वरता पदम।'

इति श्री प्रतिभिज्ञायाम। श्रीस्पन्देऽपि

'यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यातपरम पदम्।।'

इति। श्रीज्ञान गर्भेऽपि

'विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्रयोज्ज्वलम्।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी।।

इति। अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञा या प्रतिपादितत्वात् आदो उक्तः।

इस (संवित) मध्य शक्ति के विकास के लिये विकल्पों का सर्वथा हटाना आदि उपाय कहे गये हैं। पिछले सूत्रो में उपदेश किये हुये पंचकृत्य के कर्ता भाव आदि का अनुसरण करते हुये (अभ्यास करने से) सब का मध्य बनी हुई संवित का विकास उत्पन्न हो जाता है। यही (इस सूत्र का) अभिप्राय है। और उपाय भी बताते हैः– प्राणायाम मुद्रा, बन्ध आदि सब यन्त्रेणाओं (बन्दिशों) के बिना ही सुख (सरल) उपाय से ही (मध्य विकास को प्राप्त किया जा सकता है) पाया जा सकाता है। हृदय में जो निहित चिन्तः (मन) है उसको कही गई युक्ति से एकाग्रता में विध्न बने हुये विकल्पों को कुछ भी चिन्तन न करने से शाम (शान्त) करके निर्विकल्प विमर्श द्वारा देह आदि मलों से रहित अपने चित के प्रमातृ भाव (चैतन्य भाव) के अभ्यास में (चतुर योगी ही) जल्दी ही विकास में आई हुई तुर्य और तुर्यातीत समावेश की अवस्था का स्वाद करता है (अर्थात प्राप्त करता है)।

जैसे कहा है :-

विकल्पों के हटाने से एकाग्रता (भाव की प्राप्ति होती है) अ
उसी क्रम से (शनै शनै) ईष्वरता पद की प्राप्ति होती है।

एसा श्री प्रतिभिज्ञा में कहा है और श्री स्पन्द शास्त्र में भी क
गया है।

जब (मानसिक) क्षोम (अर्थात विकल्पों) का नाश होता है (ज
वह समाप्त होते हैं) तो (सजे स्वरुप) परम पद की प्राप्ति होती है।
ज्ञानगर्य शस्त्र में भी कहा है (गया) :-

है माता जो (मनुण्य) सभी मन को क्रयाओं (विकल्पों)
छोडकर और इन्द्रियों के विषयों का पीक्रा करने को क्रियाओं की
ीनता से रहित (हो जाता है) वह परतन्त्रता भाव से उन्तीर्ण होक
चमकता है (तेज़स्वी भाव में स्थित होता है)। आप के अनुग्रह (महिमा,द
के प्रभाव) से वह (मनुष्य) तत्क्षणात ही उस परादशा को प्राप्त कर ले
है जो (दषा) नित्योदित (जहां आलस्य का नाम नहीं है) और असामा
आनन्द रुपी अमृत का स्रोत है।

यह उपाय सब से प्रधान होने के कारण और प्रतिभिज्ञा शा
में सिद्ध किया होने के कारण इस शास्त्र में पहिले कहा गया है।

ऊपर हम ने देखा अविारी कि अपना स्वरूप जानने के लिये म
विकास अर्थात संवित–शक्ति का विकास करना जरूरी है और यह म
विकास पञ्चकृत्य का अनुसरण एवं अभ्यास करने से होता है। इस लि
पहिली बात जो साधक ने करनी है वह है ञ्चकृत्य का अभ्यास। जब इस
परिपक्वता आ जाती है तब संवित का विकास हो जाता है। इस अवस्था क
प्राप्त करने के और भी उपाय हैं जिनका सूत्र में एक करके स्पष्टीकर्ण कि
गया हैं।

पहला उपाय है "विकल्प क्षय"। क्योकि यह उपाय श्री प्रतिभज्ञा
सिद्ध किया गया है इस लिये यह सब उपायों में प्रधान उपाय माना जाता है

योग शास्त्र में कई प्रकार के अभ्यास बताये गये हैं जिस में से सा
ाक अपने प्रवृति एवं स्वभाव एवं विकास की अवस्था के अनुसार, एक चु
सकता है अथवा गुरू उसको बता सकता है कि उस के लिये कोनसा अभ्या
ठीक रहेगा। पहला प्राणयाम (प्राणों का निरोध),[2] मुद्राओं का बान्धना (differen
postures of body) आदि सब तरीके कठिन हैं अतः उनके लिये 'यन्त्रणा
शब्द का प्रयोग किया गया है।

अर्थात उनको 'बन्दिश' कहा गया है। उन सब से उन्तीण होकर (उन ब बन्दिशों को काट कर) एक सरल उपाय है "विकल्प क्षय" जिस से मध विकास का लाभ होता है।

'विकल्प' का शाब्दिक अर्थ (literal) है अनिश्चतता (uncertainity), या काल्पनिक (imagination) अर्थात जों चीज़ न हो उस को भासना; यहां पर विकल्प का अर्थ है पदार्थों (या विश्व को अपने से भिन्न जानना)। 'क्षय' का अर्थ है "धीरे धीरे कम होकर अन्त में समाप्त (लय) होजाना। अतः विकल्प क्षय" का अर्थ है धीरे धीरे उस भाव की समाप्ति जिस में सारे दूसरे पदार्थ अपने से भिन्न लगते हैं। अब ऐसा करने के लिये पहिला कदम मन को एकाग्र करना है। जैसा हम जानते है हृदय तथा मन (चित्त) अलग अलग हैं। मन की एकाग्रता को विकल्प भंग करते हैं। अतः इन विकल्पों को पहिले शनै शनै शांन्त करके कुछ भी चित्तन न करने की अवस्था प्राप्त करनी है। कुछ भी चिन्तन न करने की जो अवस्था है। वह मन (mind) को रिक्त (blank) करना नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था सिर पर वार (मार) करने से भी आ सकती है। यहां पर भावशून्य अवस्था (control of thought waves) की बात है। (one has to unlearn the false identification of thoughts with ego, identification of body with soul)
योग सूत्रों में इसी को 'योगश्चितत्ति निरोधः'
वृत्रि निरोध– कहा गया है। एक कशमीरी कहावत है :–

ती म्य स्वर्णाव यथ नि आसि स्वर्णुय क्येह
(मुझे वही अवस्था दो जिस में कुछ भी सोचना न हो। इस अवस्था का पूण शब्द रूप है)

जब वह निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो जाती है तो देह आदि जो मल हैं (अर्थात आणव, भाईं तथा कार्म मल) उनके दूर होने से चिति अर्थात चैतन्य भाव प्राप्त होता है और ऐसा योगी (साधक) फिर (चौथी) तुर्यातीत अवस्था प्राप्त करके समावेश की अवस्था का स्वाद करता है।

इस अवस्था के बारे में टीकाकार ने ज्ञार्नभ शास्त्र के हवाले से आगे कहा है कि साधक को सभी मन की क्रियाओं को छोडना है (अर्थात thought waves को स्थिर करना है) तथा इन्द्रियों की जो क्रियायें हैं उनको छोडना है (अर्थात इन्द्रियां जो विषयों के पीर्थ भागती हैं, उनको इन बिषयों से हटाना है।

तब साधक इन्द्रियों के परतन्त्र (अधीन) नहीं रहता है)। ऐसी अव
से वह (माता भगवती की दया से) उस 'परा' दशा को एकदम से प्राप्त क
है (जिसे 'मध्य विकास' कहा गया है) और वह दशा, बिना आलस्य
(नित्तोदित) उपमा के बिना विधियां (असामान्य) सुख रूपी अमृत (अ
समावेश) का स्रोता है।

1) सभी भारतीय दर्शनों में अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिये कई विधियां बतायी गयी
षडंग योग के मुख्य अंग हैं – प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क एवं समाधि
प्राण की तीन स्वाभाविक अवस्थाऐं– पूरक, कुम्यक और रेचक हैं। जब साधक
विशेष प्रयत्न से प्राण की गति को रोकता है, और इस पर अपना नियन्त्रण स्थापित क
है, तो 'मध्य दशा' का विकास होता है। प्राण और अपाण की गति की इस अवरोध प्र
को प्राणायाम कहते हैं।

2) शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने को बन्ध कहते है। जाल
आदि बन्ध कई प्रकार के होते है।

3) यहां पर यह बताया गया है कि प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा आदि की सहायता से
'मध्यधाम' की प्राप्ति को सकती है। परन्तु यह सब सहजता से स्वरुप लाभ नहीं
सकते हैं। स्वरुप लाभ का सब से सरल तरीका 'विकल्पक्षय' है।

4) देखिये' र्सर्वाथ तैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चिन्त्रस्य समाधि परिणामः

(योग सूत्र 3-

5) यहां पर 'क्षय' का अर्थ नाश करना नहीं अपितु अपने में ही लय करना है अ
आत्ममय करना है।

**शक्तिः संकोचाद यस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिता; तथा
आम्नायिकत्वात् अस्माभिः प्रसङ्गात् प्रदर्शयन्ते बहुषु हि प्रदर्शि
कश्चित् केनचित प्रवेक्ष्यति इति।**

**'शक्तेः संकोंच'– इद्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एव आकुञ्
क्रमेण उन्मुखी– करणम्। यथोक्तम आथर्वणिकोपनिष
कठवल्ल्यां चर्तुथवल्ली प्रथम मन्त्रे**

**'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वंयभू –
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्वीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन।।'**

ति। प्रसृताया अपि वा कुर्माङ्गसंकोचवत् त्राससमये हृत्प्रवेशवच्च र्वतो निवर्तनम्। यथोक्तम्

'तदपोद्धृते नित्योदितस्थितिः।'

इति।

शक्ति संकोंच आदि यद्यपि प्रत्यभिज्ञा षस्त्र में सिद्ध नहीं किये गये है (no mention has been made) **फिर भी दुसरे षास्त्रों में बताये हुये होने के कारण हम भी प्रसड्ग में इन का प्रर्दषन करेंगे, क्योंकि बहुत से बताये हुये उपायों के होने पर प्रत्येक पुरुश किसी एक उपाय को उपयोग में लाकर (संवित में) प्रवेष को प्राप्त कर सकेगा।**

'शक्ति संकोच' अर्थात इन्द्रियों द्वारा बहिरमुख होते हुये ही (चित शक्ति को) संकोच (withdrawal) में लाने के – क्रम से उसे (अपने ओर) सन्मुख करना है, जैसे कि अथर्ववणिक उपनिषद की कठवल्ली शास्त्र की चौथी वल्ली के पहिले मन्त्र में कहा गया है: ब्रह्मा जी, स्वयं भू (अपने आप उत्पन्न हुआ, परमेश्वर) सृष्टि रचते समय इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया। इसी लिये जीव बहिर्मुख ही होते हैं (इन्द्रिय व्यापार करता है, अर्थात जगत को अपने से भिन्न समझ कर, उसी जगत का अनुभव करते हैं) और अन्तर्मुख अपने स्वरुप का कभी विर्मश नहीं करता। कोई ही विरला धैर्यवान पुरुष इन्द्रियों को विषयों से पीछे हटाकर प्रत्यक्ष अपने स्वरुप को देखता है अर्थपत अपने स्वरुप का अनुभव कर के ज्ञान रुपी अमृत का भोग करता है)

यही बात दूसरी प्रकार से कहेंगे, कि जब प्रसर होती हुई चेतना शक्ति (streams of consciousness) बहिर्मुख हो भी गई हो तो उसे सभी विषयों से हटा कर अपने ही हृदय में मानो प्रवेश कराना है, जैसे कछुआ डर के समय अपने अंगों को समेट कर अपने शरीर में खींच लेता है।

जैसा कहा है कि बहिर्मुख शक्ति को अन्तर्मुख करने से (अर्थात चित को बहिर पदार्थों (विषयों) से हटा कर) नित्य उदय बाली (न मिटने वाली) अटल स्थिति प्राप्त होती है।

ऊपर कहा गया कि 'विकल्पक्षय' स्वरुप लाभ की सब से उत्तम एवं सहज विधि है। परन्तु हर किसी साधक के लिये 'विकल्पक्षय' करना सम्भव नहीं है, अतः और जिन से 'मध्य विकास' हो सकता है, उन के बारे में कहा

जा रहा है। इन सब तरीकों में के से कोन सा किसको अनुकूल होगा, साधक की विकास की ददशा पर निर्भर करेगा।

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में इन के बारे में कोई बात नहीं की गई है।

पहली विधि 'शक्ति संकोच' है। जीव की इन्द्रियां स्वभाविक बहिर्मुख होती हैं, जीव बर्जिजगत का ही अनुभव करते हैं। अर्थात (इन्द्रियों के द्वारा) बाहरी जगत एवं विषयों के पीछे भागता फिरता है।

साधक को चाहिये कि अपती चित शक्ति (conciousness) बाहर की ओर न जाने दे; जिस तरह एक कछुआ डर के समय अपने को समेट कर अपने शरीर में खीच लेता है, उसी तरह से साधक को अ चित शक्तियों (एंव इन्द्रियो) को समेट कर, अपने स्वरुप का विर्मश क चाहिये। इस कम को 'शक्ति संकोच' कहते है।

जब जीव इन्द्रियों को विषयों को पीछे हटा कर, (withdraw) अ स्वरुप को देखता है। तो उसे अपने 'शिव' होने का अनुभव होता है;

श्रीमद्भगवद्गीता मे श्री कृष्ण, अर्जुन को कहते है :–

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सवशः
इन्द्रियाणीन्द्रियोंथभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

||2 – 68

जिस तरह कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है ऐसे ही क में यह कर्मयोगी (जीव) इन्द्रियों के विषय से इन्द्रियो को सब प्रकार से स लेता है तो उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है। (कछुए के छः अङ्ग–च पैर, एक पूछ तथा एक मस्तक का हम पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन से तुल कर सकते है)।

तथा तस्माद्यस्य महा बाहो निगृहीतानि सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

|| 2 – 68

इसलिये हे महाबाहो। जिस पुठष की इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से सर्व निगृहीत
(senses are completely restrained from their objects) है, उसक बुद्धि स्थिर है।

शक्तेविर्कासः' अन्तर्निगूढाया अक्रममेव सकलकरणचक्र विस्फारणेन

'अन्तर्लक्ष्यो बहिद्रष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।'

ति। भैरवीयमुद्रानुप्रवेश्युक्तया बहिः प्रसरणम्। यथोक्तं कक्ष्यास्तोत्रे

'सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः
स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक्।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूत–
स्तिष्ठन्विश्वाधार एकोऽवभासि।।

ति। श्री भटटकललेटनापि उक्तम्

'रुपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः।'

ति।

शक्ति विकास' शक्तियों का विकास मे लाना– अन्दरही छिपी हुई चित शक्ति का किसी क्रम के बगैर, एक साथ ही सभी इन्द्रिों के समुह (च्रक) को विषयों में प्रवृत (विकसित) करने से होता है। (अर्थात) अन्दर के आत्म स्वरुप को लक्ष्य बना कर, आखों के पलक खोलने एवं बन्द करने के बिना (मन की विक्षप्तता दूर कर के), इन्द्रियों द्वारा विषयों में फिरते हुए भी, (स्वात्म स्वरुप का ज्ञान या मध्य विकास होता है)। यह भैरवी मुद्रा में प्रवेश करने की युक्ति से होता है (अर्थात शक्ति विकास,भैरवी मुद्रा में प्रवेश करके इन्द्रिय व्यापार करने से होता है) जैसा कि 'कक्ष्यास्तोत्र' में कहा गया है:

दर्शन आदि सभी शक्तियों को एक ही साथ चारों ओर से अपने अपने विषय में डाल कर, आप (साधक) एक निश्चल सोने के स्तम्भ की तरह इस जगत का आधार बन कर स्थित हो।

श्री भट्ट कल्लट ने भी कहा है :

रुप आदि विषयों में परिपात हो जाने से (उस चित् शक्ति की) सिद्धि हो जाती है।

मध्य विकास का तीसरा तरीका 'शक्ति विकास' है। 'जीव' तो मूलतः 'शिव' ही है, परन्तु 'जीव' रुप में उसकी शक्तियां संकुचित तथा परिमित है। शक्तियां उसे मोह में डाल कर संसारी बनाती है। अगर शक्तियों को संकोच

में लाया जाये तो 'शिव स्वरूप' ही बचता है और उन्ही शक्तियों को अ
विकास (projected outwards) में लाया जाये तो भी अनुभव होगा कि प
शिव की शक्तिही इस जगत का रुप ले रही है अर्थात 'जीव' को अपने 'शि
रुप होने का अनुभव होगा इसी को 'मध्य विकास' कहते है।

शक्ति विकास में छिपी हुई चित्त शक्ति, सारी इन्द्रियों के द्वारा बा
की ओर प्रसर करती है। साधक, इन्द्रियों के द्वारा विषयों में फिरते हुये
मन की विक्षप्तता को दूर करके, अपने अटल एवं स्वात्म स्वरुप का अनु
करता है। ऐसा साधक दर्शन, स्पर्शन आदि (देखना, सुनना, सूंघना, चख
एंव छूना) सभी शक्तियों को एक ही समंय चारों ओर से अपने अपने वि
(रुप,शब्द गन्ध,रस एंव र्स्पश) में डालकर, आप निश्चल प्रकाश स्वरुप (
एक सोने के स्तम्भ की तरह) इस जगत का आधार बन कर स्थित हो
है।

ऐसा भैरवी मुद्रा में जाने से होता है। जिस अवस्था मे मन ह
सावधान एंव स्थिर हो, प्राण वायु भी स्थिर हो, बिना किसी बाहिरी अवरोध
आंखे खुली भी हों परन्तु दृष्टि स्थिर हो उसी अवस्थाको निर्मल खेचरी (भै
मुद्रा कहते है।

अर्थात साधक की सारी इन्द्रियां अपने अपने विषय में लगी हो, प
साधक अपने आत्म स्वरुप के साथ एक होकर समावेश में हो।

1) क्रम दर्शन के ग्रन्थों में करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहाना और खेचरी नाम की
मुद्रायें प्रसिद्ध है। परन्तु यहां इस ग्रन्थ मे लगता है कि भैरवी मुद्रा को ही खेचरी मुद्रा
गया है। खेचरी मुद्रा को सब से उत्तम मुद्रा माना गया है।

2) खेचरी मुद्रा के बारे में बताया गया है।

कपाल कुहरे जिहवा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोन्तगता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी।।

खेचरी मुद्रा में जिहवा को उलट कर तालु प्रदेश में प्रविष्ट करा दिया जाता है एंव
को भ्रूमध्य में स्थिर किया जाता है।

3) इस संर्दभ में देखिये

र्स्पशन्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाम्यन्तर चारिणौ।
यतेन्द्रिय मनो बुर्द्धिमुनि मोक्षपरायणः
विगतेच्छा भय क्रोधो यः सदा मुक्त एव स।।

(श्रीभगवद् गीता 5 – 27ए

4) 'शक्ति विकास' में साधक अपनी शक्तियों को with draw करने के बदले
शक्तियों को एक साथ (simultaneously) अपनी इन्द्रियों के द्वारा बाहिर की

रित करता है। साधक अपने स्वात्म स्वरुप से एक होकर, निश्चल भाव में स्थित होकर, खें खुली भी हों परन्तु वह कुछ भी देखता नही है, अपने 'शिव' रुप होने का आनन्द ा है। इसी को भैरवी या शाम्भवी मुद्रा कहते है। देखिये 'शक्ति चंक्रसंधाने विश्वसंहारः' सूत्र (1–6)

क्रेश्च संकोचविकासौ, नासापुटस्पन्दन क्रमोन्मिषत्सूक्ष्म णशक्तया भ्रूभेदनेन क्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनी पदे प्रसरविश्रान्ति शापरिशीलनम; अधः कुण्डलिन्यां च षष्ठ वक्ररुपायां प्रगुणीकृत्य क्तिं, तन्मूल – तदग्र – तन्मध्य भूमिर्स्पशावेशः। यथोक्तं ज्ञानभट्टारके

'वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत्।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते॥'

ति। अत्र वह्निः अनुप्रवेशक्रमेण संकोचभूः, विषस्थानम् सरयुक्तया विकासपदम् 'विष्लृव्याप्तौ' इति अर्थानुगमात्।

क्ति का संकोच और विकासः (वह ओनों इकट्ठे ऐसे होता है), नथनों जोडों (को बन्द करने से) में प्राण वायु की हरकत को क्रम से (प्राण भ्यास से) प्रकट होने वाली प्राणशक्ति द्वारा भ्रूमध्य का भेदन करने से क्रमशः सिद्ध किये हुये ऊर्ध्व (ऊपर वाली) कुड़लिनी के स्थान में ब्रहमरन्ध्र) प्रसर और विश्रान्ति (प्राण वायु के निकलने और ठहरने) का अभ्यास करना; (और) अधः' कुण्डलिनी (नीचे वाली कुण्डलिनी) को भी जो ६ मुख रुप वाली शक्ति है उसे मूलाधार में प्राण शक्ति को अप्रधान कर के उस के मूल, उस के आदि एंव उस के मध्य अवस्था में प्रवेश करके उससे तन्मय हो जाना।

जैसा विज्ञान भैरव में कहा है:

संकोच की भूमि (वह्नि) एवं विकास की भूमि (विष) के मध्य में जो स्थिति है उस में चित (मन) को सुख पुर्वक एकाग्र करने से या केवल प्राण वायु को आरोह और अवरोह के क्रम रहित) को (मध्य नाडी में) परिपूरित करने से काम सुख (स्त्री सुख) जैसा आनन्द मिलता है।

इस श्लोक में 'वह्नि' पद का अर्थ है: प्रवेश करने के क्रम से सकोच की भूमि (अवस्था) ; और 'विष' का अथ है:

प्रसर (बाहिर निकलने) की युक्ति से विकास (पद), क्योकि 'विष्लृ' धा
का अर्थ व्याप्ति है। यही इस का अर्थ है।

यहां अब मध्य विकास का चौथा तरीका बताते हे। शक्तियो का एक सा
(simultaneous) संकोच तथा, विकास, मध्य विकास की एक युक्ति है। य
प्राप्त करने का तरीका नीचे बताया गया है।

प्राण अभ्यास[1] से प्रकट होने बाली सूक्ष्म प्राण शक्ति से भ्रूमध्य का
भेदन करके उसे उर्ध्व कुण्डलिनी में प्रविष्ट कराना याहिये और उसी पद
विश्राम करना[2] चाहिये और वहां से प्रसार कराना चाहिये। इन दोनो (प्रस
एंव विश्राति) का क्रम से अभ्यास करना चाहिये। इस के अतिरिक्त प्राण शा
के छः मुख वाली[3] अधः कुण्डलिनी के मूल, उसके आदि (tip) एवं उस के
य में, स्पर्श कराना चाहिये (प्रवेश कराना चाहिये)[6] इसी विकास की भूमि
संकोच की भूमि के मध्य में जो स्थान है, उसी पर मन को एकाग्र किया जा
(या प्राण वायु को इन दो भूमियों के मध्य में स्थित किया जाये) तो स्त्री स
के बगैर ही काम आनन्द जैसा सुख एंव आनन्द मिलता हे अर्थात अपने प
आनन्द मय स्वरुप का अनुभव करने अगता है।

1) साधारणतः प्राण का अंथ है श्वास छोडना और अपान का अंथ है श्वास लेना। सामा
प्राणायाम में दायें नासापुट को बंद करके बायें नथने से वायु अन्दर लिया जाता है। इ
पूरक कहते है। फिर वायु को कुछ देर अन्दर ही रोक रखना चाहिये। यह प्राण निरोध
कुम्भक है। फिर बायें नथने को बंद करके दायें से वायु को धीरे धीरे छोडना चाहिये य
रेचक है। इस के निरन्तर अभ्यास से पहिले नाडी शोधन होता है और फिर प्राण शा
सूक्ष्म एंव सूक्ष्मतर हो जाती है। यह बाह्य प्राणायम है। फिर आभान्तर प्राणायाम है फि
से मध्य विकास की प्राप्ति हाती है।

2) प्राण की प्राणायम प्रक्रिया में जब वायु नासिका र्माग से न निकल कर ऊपर के सहस्रा
कमल की ओर बढता हुआ सूक्ष्म प्राण शक्तिके रुप में भ्रूमध्य (विशुद्धि चक्र) का भेदन करत
उर्ध्व कुण्डलिनी (ऊपर के अधोमुख सहस्रार कमल) में प्रविष्ट करता है। और वहां विश्रा
करता हे तो योगी की शक्ति का विकास होता है। इस विकास पद को 'विष' नाम से जान
जाता है।

4) जिहवा मूल के पास चार नाडियां है जिनको लम्बिका कहते है। दो नाडियो में प्रा
चलते है तीसरे से कुण्डलिनी मूलाधार से ब्रहमरन्ध्र को जाती है और चौथी से कुण्डलिन
ब्रहमरन्ध्र से वापस मूलाधार तक जाती है, इसी को 'अधः कुण्डलिनी' कहते है।
5) शक्ति के संकोच स्थान को 'वह्नि' के नाम से जाना जाता है।

5) अधः कुण्डलिनी के छः मुख माने जाते है–पांच–नेत्र, कान, हाथ, नाक एंव चंम तथ्स छट्टा गुह्यस्थान।

6) उर्ध्व कुण्डलिनी में शक्ति का विकास होने से अधःस्थान में स्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी में भी प्राण शक्ति का विकास एवं शक्तिका विस्तार किया जासकता है। इस अवस्था में अध : कुण्डलिनी के मूल, अग्र व मध्य भाग में प्राण शक्ति के स्पंश की स्पष्ट अनूभूति होती है।

7) बह्नि और विष स्थानो के बीच वाले स्थान में मन को एकाग्र करना है। अर्थात श्वास की प्रक्रिया से प्राण तथा अपान की गति को नियन्त्रित करके, मन को एकाग्र करके, प्राण वायु को आरोह बौर अवरोह व्यापार से रहित करके मध्य नाडी (सुषम्णा) में परिपूरित करके, एंव मन को 'विष' एंव 'वह्नि' के मध्य में ठहराने से (मध्य विकास की प्राप्ति) आनन्द की प्राप्ति कोती है। यह अभ्यास करने से सोगी कामानन्द से परि पूरित हो जाता है।

8) कामानन्द (स्त्री से संभोग का आनन्द) अन्य सभी लौकिक विषयों से उत्पन्न होने वाले आनन्द की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट है। अतः मध्य विकास में जाने के आनन्द की तुलना कामानन्द से की गई है।

9) लिंग के ऊपर नाभि के चार अंगुल नीचे अग्नि (वह्नि) नाम का स्थान है। लिंग के मध्य में 'विष' नाम का आधार है। इन दोनो आधारों के बीच में आनन्दमय चित्त की बार–बार भावना करनी चाहिये। इस से साधक कामानन्द से परिर्पूण हो जाता है।

10) कुण्डलिनी मूलाधार में सोई रहती है। यह भुजंग आकार होती है। जाग्रत होने पर षट चक्रों का भेदन करके यह सहस्रार चक्र में विराजमान शिव मे साथ जा मिलती है। पाठक गण कुण्डलिनी के बारे में परिचित है अतः ग्रन्थ विस्तार के कारण यहां उस के बारे में लिखा नही गया है। पाठक गण, षट चक्र निरुपण, सौन्दर्य लहरी एवं serpent power जैसे ग्रन्थ देख लें। शैव शास्त्र के एक उत्कृष्ट ग्रन्थ "विज्ञान भैरव" में षट चक्रों के स्थान पर बारह चक्रों (या क्रमों) का उल्लेख है। नाडियां जो 72,000 है, उन में तीन नाडियां प्रधान है इडा, पिंगला तथा सुषम्णा। सुषम्णा नामक मध्य नाडी सहस्रार में जा की लीन होती हे। इसी मध्य धाम में विश्रान्ति योगी को प्राप्त करनी होती है। यह मध्य नाडी कमल के नाल में अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओ के समान कृश आकार वाली है। इस नाडी के बीच में चिदाकाश रुप शून्य का निवास है जिस से प्राण शक्ति निकलती है। साधक मध्य नाडी की सहायता से, ऊर्ध्वगत प्रमाण रुपी पद्म और अधः स्थित प्रमेय रुपी पद्म के मध्य में (प्रमाता) अपने स्वरुप मे स्थित होती है अर्थात स्वरुप में प्रतिष्ठित होता है।।

'वाहयो:' – वामदक्षिणगतयो: प्राणापानयो:' छेदो'–
हृद्यविश्रान्तिपुर: सरम् अन्त: ककार हकारादिप्रायानच्क–
र्वणोच्चारेण विच्छेदनम। यथोक्तं ज्ञानर्गभे

'अनच्कक कृतायति प्रसृतपार्श्व नाडीद्वय–
च्छिदो विधृतचेतसो हृदय पङ्कजस्योदरे।
उदेति तव दारितान्धतमस: स विधाङ्कुरो
य एष परमेशतां जनयितुं पशोरप्यलम।।'

इति।

प्राण रुपी प्रवाहों अर्थात बाई एवं दाई और गये हुये प्राण एंव अपान को काटना (अर्थात) हृदय के स्थान पर विश्रांति करा कर (एकाग्र करके) उसी एकाग्र भाव से (अन्दर से) 'क' कार 'ह' कार आदि स्वर रहित व्यञ्जनों के उच्चारण द्वारा (उस प्राण वायु के) छेदन करने का अभ्यास करना। जैसे ज्ञान गर्भ शास्त्र में कहा है:

(जो पुरुष) हृदय कमल के बीच में अपने मन को एकाग्र करके, लम्बे स्वर रहित निकले हुये 'क' कार के उच्चार से वाम एंव दक्षिण (प्राण एवं अपान) नाडियो (इडा एंव पिङ्गला) को छेद डाले (नियन्त्रित करे), उसका अज्ञान रुपी अन्धकार दूर होकर अलौकिक ज्ञान (शुद्ध विद्या) का अङ्कुर फूटता (पैदा होता) है। यह (विद्याङ्कुर) पशु में भी परमेश्र्वर भाव पैदा कर सकता है।

यह पांचवे प्रकार की प्रक्रिया है जिस से मध्य विकास होता है। 'वाहच्छेद' का शब्द अंथ है 'प्रवाह' को नियंत्रण में रखना। यहां प्राण शक्ति के प्रवाह को नियंत्रण में रखने की बात है। बाई र्तफ से चलने वाले प्राण (अपान) तथा दाये र्तफ से चलने वाले प्राण (प्राण) को नियंत्रण में करना (या रोकना) है, और हृदय कमल पर विश्रांति करानी है। (अर्थात इडा एंव पिङ्गला में बहती हुई शक्ति को रोकना है)। मन को एकाग्र करके स्वर रहित व्यञजणों (जैसे क् एवं ह्) का उच्चारण करना है, परन्तु इन का उच्चारण लम्बा करके करना है। ऐसा करने से

शुद्धविद्या का फूटता अङ्कुर है, अज्ञान दूर होता है तथा साधारण जीव भी 'शिव' भाव को प्राप्त होता है।

यह प्रक्रिया केवल एक सद्गरु के मार्ग प्रर्दषन में ही की जाती है। ऐसा गुरु जिन्हों ने इस क्रिया पर पूरा नियंत्रन किया हो। वह तो जीवन मुक्त और 'शिव' भाव को प्राप्त हुये होने चाहिये। प्राण एवं अपान को नियंत्रिन करने की प्रक्रिया, कुण्डलिनी जागरण की विधि, पुस्तकों से पढ़ने से नहीं होती है। उस के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। अच्छे और अनुभवी पथ प्रर्दशक के बगैर यह क्रियायें संकट पूर्ण (खतरनाक) होती है।

'आदि कोटिः' हृदयम्, 'अन्तकोटिः' द्वादशान्तः, तयो प्राणोल्ल्लासविश्रान्त्यवसरे 'निभालनं'–चित्तनिवेशनेन परिशीलनम्। यथोक्तं विज्ञानभैरवे

'हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मासंपुटमध्यगः।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात।।'

इति।

आदि कोटिः हृदय और अन्तकोटिः द्वादशान्त; प्राण एवं अपान के उल्लास (प्रवेश) के अवसर पर (इन दो स्थानों पर) निभालन अर्थात मन को एकाग्र करके अभ्यास में तप्तर रहना। जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है।

जो मनुष्य हृदय रूपी आकाश में अपने नेत्रों (इन्द्रयों) को लीन करे और हृदय कमल में अन्दर गया हो; हे भगवतिः ऐसे सावधान (एकाग्र) मन वाले पुरुष को परं सौभाग्य अर्थात शिव भाव की प्राप्ति होती है।

प्राण एवं अपान गति जिस स्थान पर उप्तण होती है या जहां जाकर रुक जाती है, उन को हृदय और द्वादशांन्त कहते है। हृदय स्थित कमल में प्राण का उदय होता है और नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अगुल चल कर आकाश में विलीन होता है। इसे द्वादशांन्त (या बाह्य आकाश) कहते

है। हृदय से बाह्य द्वादशांन्त तक प्राण और बाह्य द्वादशांन्त से हृदय तक आने वाल अपान है।

मध्य विकास का छूट्टा तरीका 'आदि कोटि निभालन' है। प्राण और अपान के उल्लास (प्रसर) और विश्रान्ति (प्रवेश) के समय अभ्यास करना है। जो प्राण का प्रसर है वही अपान का प्रवेश है। मन को एकाग्र करके इन्ही दो स्थानों पर ठहराने का अभ्यास करना है। इस अभ्यास से लगता है मानों प्राण और अपान कही विलीन हो गये यही स्थिति 'मध्य दशा' है। इस दशा के विकास से भेद दृष्टि नष्ट हो जाती है, इन्द्रियां अन्तर्मुख हो जाती है। और 'शिव' भाव या आत्म स्वरूप प्रकाशित हो उठता है।

(1) कई आचार्य कहते है कि द्वादशन्त की स्थिति शिखा के अन्त में है। अतः द्वादशान्त ब्रहमरन्ध्र से प्रथक है।
(2) हृदय से प्राण का उदय होता है तो बाह्य द्वादशांन्त में एक क्षण के लिये अस्त होता है। फिर वहां से अपान आकर हृदय में क्षणमात्र के लिये अस्त होता है। एक के अस्त होने पर और दूसरे के उदय होने में जो छोटा समय होता है वह आन्तरिक कुम्भक है। यही पद, मध्य दशा का परम पद है। उसी पद को विकसित करना है। इस दशा (पद) को योगी ही जान सकता है।
(3) अजपा गायत्री (सोहं) मंत्र जो है, उस में हकार की उत्पति हृदय में और सकार की उत्पति द्वादशान्त में मानी जाती है।

तथा

'यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत।
प्रतिक्षण क्षीणवृत्तैर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्।।'

इति।

और भी (विज्ञान भैरव में ही) कहा है:
जैसे तैसे और जहां कहां भी (प्रतिक्षण) मन को द्वादशान्त के स्थान में एकाग्र करना चाहिये। इस प्रकार मन को चलायमान करने वाली मनो वृत्तियों के क्षीण (नष्ट) होजाने से थोडे ही काल में विलक्षण भाव (मध्य विकास) उप्तन्न हो जाता है।

मध्य विकास का यह छट्टा तरीका है। यहां पर कहा गया है कि अपने चित रस से उदय में आये हुऐ, संवित के प्रसार होने के प्रकार से, शरीर के सब चक्रों अर्थात द्वादशान्त पर मन को एकाग्र करना चाहिये। ऐसा करने से मन को चलायमान करने वाली मनो वृत्तियां नष्ट हो जाती है जिस से अल्प समय में ही मध्य विकास की दशा प्राप्त होती है। इसे अन्त कोटि निभालन भी कहते है।

अंथात किसी भी तरह (somehow) मन को द्वादशांन्त पर एकाग्र कर लें, तो कुछ ही दिनों में विलक्षण भाव (Supernatural experience) मध्य विकास की प्राप्ति होती है।

(1) "यथा यथा यत्र तत्र" का सामान्य अंथ है, जिस जिस प्रकार से, जिस जिस विषय में मन को लगाया जाये, वहां पर मन को द्वादशान्त में एकाग्र करना है।

(2) सभी नादियों के अग्राभाग में द्वादशांन्त की स्थिति मानी जाती है। एवं द्वादश आधारों के अन्त में इस की स्थिति होने के कारण इसे द्वादशांन्त कहते है।

आदिपदात् उन्मेषदशानिषेवणम्। यथोक्तम

'उन्मेश: स तु विज्ञेय: स्वयं तमुपलक्षयेत।।'

इति स्पन्दे। तथा रमणीयविषयचर्वणादयश्च संगृहीता:।

यथोंक्त श्रीविज्ञान भैरवे एव

'जग्धिपान कृतोल्लासरसानन्द विजृभ्भणात।

भावयेद्धरितावस्थां महानन्दमयो भवेत।।

गीतादिविषयास्वादा समसौखयैकतात्मन:।

योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरुढेस्तदात्मता।।

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत।

तत्र तत्र परानन्दस्वरुप संप्रकाशते।।'

इति। एवमन्यदपि आनन्द पूर्ण सवात्मभावनादिकम् अनूमन्तव्यम्।

इत्येवमादय: अत्र मध्य विकासे उपाया:।। १८।।

सूत्र में बताये 'आदि' पद से उन्मेष (विकास) की दशा का अभ्यास करना अभिप्रेत है। जैसे स्पन्द शास्त्र में कहा है: 'उसी (मध्य दशा) को उन्मेष समझना चाहिये और उसे अपने आप जानना (अनुभव करना) चाहिये। अर्थात एक चिन्ता (ख्याल) में लगे हुये पुरुष को जव दूसरे विषय (ख्याल) का आभास हो जाये, तो उन दोनों ख्यालों की बीच वाली अवस्था को ही उन्मेष समझना चाहिये, इसे स्वयं ही अनुभव करना चाहिये।

वैसे ही आनन्द दायक, स्वादिष्ट एंव रमणीय विषयों का स्वाद करना आदि, उपाय भी (मध्य विकास के लिये) बताये गये है।

जैसे कि श्री विज्ञान भैरव में कहा है
स्वादिष्ट भोजन आदि के खाने, पीने के भोग के समय, रस रुपी आनन्द शक्ति को विकसित करके परिपूर्णता की अवस्था की भावना करने से परमानन्द (मध्य विकास) की प्राप्ति होती है।

गाना आदि विषयों का आस्वादन करने से उस अद्वितीय सुखभाव के साथ एक रुप बने योगी का मन उसी आनन्द के साथ तन्मय होता है, (मन की जो स्थिर अवस्था बनती है, वह शिव अवस्था ही होती है)

जिस जिस विषय के भोग में मन संतुष्ट (आनन्दमय) रहे, उसी विषय के भोग में मन को लगाये। तो उस उस विषय के भोग में एकाग्र भाव की प्राप्ति से परमानन्द (मध्य विकास) की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार और और आनन्द से परिपूर्ण स्वात्म स्वरुप की भावना आदि अनुमान करनी चाहिये।

ऐसे ऐसे (इत्यादि तरीके) उस मध्य विकास के लिये (अनेक) उपाय बताये गये है।।

यहां मध्य विकास प्राप्त करने के कई और तरीके बताये गये है। मन नो बहुत ही चंचल स्वभाव का है। यह एक जगह टिकता नही है। अगर जीव एक विचार में निमग्न है तो अकस्मात ही दूसरा विचार मन में आता है। दो विचारों (thoughts) के बीच में बहुत ही कम समय का अन्तर (interval, विराम) होता है। इस विराम को 'उन्मेष' कहते है। योगी को इसी अन्तर (interval) पर ध्यान करना है और इस अवस्था (काल के अन्तर को) को धीरे धीरे बडाना है। और अन्ततः मध्य विकास (स्वरुप लाभ) प्राप्त होता है।

इसी तरह आनन्द देने वाले, स्वादिष्ट एंव रमणीय विषयों का स्वाद करना भी मध्य विकास की प्राप्ति के उपाय बताये गये है।
पहले उपाय रसना विषय का अभ्यास है। गहरी भूख को मिटाने के समय जब (खाने के योग्य) कुछ खाया जाये तो प्रत्येक लुकमे से शरीर में सन्तोष, पुष्टि और भूख की निवृति होती है। इसी तरह गहरी प्यास को मिटाने के लिये जब शीतल जल (आदि) पिया जाये तो हर घूंट से शरीर में सन्तोष, पुष्टि और प्यास की निवृत्ति होती है। इन से उल्लास एंव आनन्द का अनुभव होता है। यह आनन्द स्वात्म स्वरुप की याद दिलाता है। इसी आनन्द दशा का विर्मशन योगी करता है और समावेश के आनन्द से भर जाता है। अतः भोजन करते समय या दूध जल आदि पीते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कोन स्वाद ले रहा है।

दूसरा उपाय श्रवण का अभ्यास है। अच्छा गायन एंव वादन को सुनने से अनुपम सुख का अनुभव होता है। इस आनन्द की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का चित्त कुछ देर के लिये स्थिर होता है। इस एकाग्र दशा में अपने चित्त को अभ्यास के द्वारा तन्मय बनाने से अन्ततः स्वात्म स्वरुप का लाभ होता है। इस के अतिरिक्त स्पर्ष आदि विषय का अभ्यास भी मध्य विकास की प्राप्ति कराता है।

कान से गीत सुन कर, हाथ से कोमल वस्तु को छू कर आखों से सुन्दर वस्तु को देख कर, जीभ से मधुर भोजन को चख कर और अन्य लुभावने विषयों का स्वाद करने से आनन्द की अनुभूति होती है। अभ्यास से मन को इस आनन्द से तन्मय करने से मध्य विकास की दशा प्राप्त होती है।

संभोग के समय जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द अपना ही है (जिस से संभोग किया जाये उस से नही है), इसी आनन्द का पूण ध्यान करने से (उस में तन्मय होने से) जीव परब्रहम स्वरुप हो जाता है।

अतः मन का जहां जहां संतोष मिलता है वहां पर ही मन को स्थिर करना चाहिये। जिस विषय के भोग मन को तुष्टि अर्थात आहलाद मिले और आनन्द से भर जाये, उसी विषय मे मन को लगा कर एकाग्र करना चाहिये। और आनन्द से परिर्पूण स्वात्म स्वरुप की भावना करनी चाहिये। इस से 'मध्य विकास' होता है।

श्रीभद्वगवद्गीता में भगवान कहते है

यतो यतो निश्चरति मनश्वञ्चलमस्थिरम
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वंष नयेत।। ६ –
२६।।

चञ्चल मन को उन विषयों, (जिन के पीछे वह भागता है) उन से हटा कर (बार बार) स्वात्म स्वरुप पर एकाग्र करना चाहिये।।

इसी प्रक्रिया को दूसरे तरीके से यहां बताया गया है, मन का स्वभाव तो विषयों के पीछे भागना है। उसे गूढ अभ्यास से एंव बहुत ही कठिनाई से विषयों से हटाया जा सकता है। परन्तु अगर हम देख ले कि हर किसी विषय (या नील पील पर्दाथ आदि में) संवित स्वरुप 'शिव' ही चित्प्रकाश अवस्था में विद्यमान है। तो अगर मन किसी भी विषय के पीछे जाये, वहां तो 'शिव' ही प्रकाशित हो रहे है। अतः मन को विषय से हटाने की कोई आवश्यकता नहीं है। जहां और जिस भी विषय में मन लगा जाये, यहीं उसी स्थिति में उसे स्थिर कर देना चाहिये। ऐसा करने से शिव अवस्था विकसित हो जायेगी।

इसी अवस्था के बारे में कहा है कि जब देह में अहंभाव नष्ट होता है, तो मन जहां भी जाये, वहां उसे 'शिव' ही दिखता है।

दूसरे शब्दों में, पांच ज्ञानेद्रियां एवं कर्मेन्द्रियों के विषयों में मन रमता हो (वह किसी सुन्दर नारी का शरीर हो, स्वादिष्ट भेजन हो, मधुर गायन हो आदि) तो उन सब विषयों में अपना ही स्वरूप दिखाई देना चाहिये, इन विषयों के भोग के समय मन कुछ देर के लिये स्थिर हो जाता है। इसी स्थिति को केन्द्र बिन्दु बनाना है और अभ्यास से मन की एकाग्रता को बढ़ाना है, उसी से स्वात्म स्वरूप में साधक प्रतिष्ठित हो जाता है।

मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः, स एवं च परमयोगिनः समावेशसमापत्त्यादिर्पयायः समाधिः, तस्य नित्योदितत्वे युक्तिमाह

मध्य (धाम के) विकसित हो जाने से चिदानन्द की प्राप्ति होती है; और यही प्राप्ति उत्कृश्ट योगी की समाधि अवस्था है। जिसे समावेष, समापत्ति आदि दूसरे नामों से पुकारा जाता है। यह (समाधि) कैसे नित्योदित (अटल) रहे, उस की युक्ति आगे सूत्र में कही है।

मध्य धाम अर्थात संवित के विकास से चित तथा आनन्द (cit & bliss) की प्राप्ति होती है, और ऐसा योगी जिसको यह प्राप्त होगया हो उसे शिव से एक भाव की अवस्था होजाती है, यही समाधि (की अवस्था) है। योगी पहिले इस अवस्था में कुछ देर रह कर फिर से सामान्य दशा (इदमअहम अथात भेद की दशा में आता है जिसे व्युत्थान कहते है)[1] अगले 23वें सूत्र में यह बताया गया है कि योगी कैसे हर समय समावेश की दशा में रह सकता है।

(1) इसी के संर्दम में शिवस्तोत्रावली में कहा है
संग्रहेन सखदुखलक्षणं मां प्रति स्थिमिदं श्रणु प्रभो
सौरख्यमेष भवता समागमः स्वामिना विरह एवं दुःखिता।। (13–1)
सक्षेप में अगर कहे तो सुख समावेश है और व्युत्थान दुःख है।
इस लियं नित्य समाधि में रहने की युक्ति आगे सूत्र में कही है।

समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चियदैक्यार्मशान्नित्योदित समाधि लाभः।। १९।।

समाधि के संस्कार युक्त व्युत्थान दशा में भी बार बार चित् की एकता का विर्मश करने से नित्योदित (अविनाशी) समाधि प्राप्त हो जाती है।

योगी जब एक बार समावेश (के आनन्द) का अनुभव करता है तो जव यह दशा चली जाती है और योगी सामान्य दशा (जहां पर mental activety फिर से होती है ओर भेद का भास होने लगता है) में अथात व्युत्थान की दशा में आता हे तो योगी को क्योकि समाधि दशा के सुख का प्रभाव (impression) रहता है। इसी संस्कार के कारण योगी को व्युत्थान दशा में भी चित के साथ एकता का विर्मश करना चाहिये जिस से नित्योदित (everlasting) समाधि प्राप्त होती है।

योगी का लक्ष्य तो मध्य धाम या शून्य स्वभाव में विश्रान्ति है। इस दशा में ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय, प्रमाता–प्रमाण और प्रमेय एक हो जाते हैं। और योगी को अपने वास्तविक स्वरुप का ज्ञान होता है। उसे यह सारा विश्व अपना ही

स्वरुप लगता है। इसी दशा को 'समाधि या समापत्ति या समावेश' कहते है। इस अवस्था में योगी पहले पहले कुछ देर रह कर फिर से भेदमय स्वरुप को प्राप्त होता है। यह व्युत्थान की दशा है। परन्तु व्युत्थान दशा में भी उसे समाधि की दशा का प्रभाव (impression) रहता है।
समाधि के बारे में देखिये योग सूत्र (अध्याय–1 सूत्र 41–44)

एंव,

> ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद ध्येयैक गोचरम
> निवातदीपवच्चितं समाधिरभिधीयते।। (पञ्चदशी 1–55)

एंव,

> मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम
> यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः।। (विज्ञान भैरव–135)

आसादितसमावेशो योगिवरो व्युत्थाने अपि समाधि रससंस्कारेण क्षीव इव सानन्दं धूर्णमानो, भावराशिं शरदभ्रलवम इव चिद्गगन एव लीयमान् पश्यन, भूयौ भूयः अन्तर्मुखताम एव समलम्बमानो, निमीलनसमाधि क्रमेण् चिदैक्यमेव विमृशन, व्युत्थानाभिरमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति।

समावेश को पाया हुआ उत्तम योगी व्युत्थान में भी समाधि के रस के संस्कार से आनन्द के नशे में तन्मय होता है और झूमता है। वह पर्दाथ समूह को (वेद्य वंग को) शरत काल के मेघ के छोटे अंशों की भ्रांति चिदाकाश में लीन होता हुआ देखता है (विर्मश करता है) और बार बार अन्तर्मुखता को प्राप्त होता है। और निमीलन समाधि के क्रम से (पर्दाथ समूह को) चित् से एक रुप देखता है। इस प्रकार व्युत्थान की दशा में भी उसे समाधि का आनन्द प्राप्त रहता है।

अभ्यास एंव विर्मश से योगी समावेश की स्थिति को प्राप्त होता है। और जब वह व्युत्थान की अवस्था में भी आता है तो समाधि के रस से आनन्दित वह योगी मानो नशे में होता है। व्युत्थान की दशा में आकर भी वह इस आनन्द के रस से विभोर रहता है। व्युत्थान की दशा में तो भेद होता है परन्तु ऐसा योगी वेद्य वंग अर्थात पर्दाथ समूह को चिदाकाश में ऐसे ही लीन

होता हुआ देखता है जैसे कि शरत काल में मेघ (बादल) के छोटे अंश आकाश में लय होते है। अंथात वह सारे पर्दाथ समूह (objective world) को अपने चिद्गगन में लीन होता देखता है, और वह अन्तर्मुखता को प्राप्त करता है। फिर वह व्युत्थान की दशा में बार बार अनुसन्धान एवं विर्मश से, अंथात वेधों मे चित रूपता का विर्मशन करने से, क्रम से उन्हें चित से एक रूप देखता है। बहिर्मुख होके भी अन्तर्मुखता को प्राप्त करता है। इसे ही निमीलन समाधि कीते है। निमीलन समाधि की अवस्था वह है जिस में व्युत्थान (बहिर्मुखता) की अवस्था में भी, इन्द्रिय या मनो व्यापार में समाधि का आनन्द प्राप्त रहता है।

समाधि शब्द के बदले समापत्ति शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। शास्त्रों में समाधि के कई प्राकर बताये गये है। दो प्रकार उन्मीलन तथा निमीलन समाधि है। मध्य धाम (भैरवी मुद्रा) में विकसित योगी की इन्द्रियां खुली रहती है परन्तु वह अपने विषयों की और आकृष्ट नहीं होती हैं इस स्थिीत को उन्मीलन समाधि कहते है। बाह्य और आन्तर इन्द्रियों के प्रवाह को रोक कर प्राप्त होने वाली समाधि को निमीलन समाधि कहते है। निमीलन समाधि में साधक बहिर्मुख होता हुआ भी स्वरूप निष्ट रहता है। पहले पहले तो साधक को यह दशा अल्प समय के लिये ही प्राप्त होती है परन्तु पुनः पुनः अभ्यास करने से (इस तथ्य को हर बार याद करने से कि साधक तो 'शिव' ही है), साधक उस अवस्था में आता है जहां वह हर समय अपने स्वात्म स्वरूप में समाविष्ट रहता है।

यथोक्तं क्रमसूत्रेषु

> **'क्रममुद्रया अन्तः स्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तः प्रवेशः, आभ्यान्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात जायते – इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः'**

इति।

जैसा क्रम सूत्रों में कहा गया है :
अन्तः स्वरूप क्रम मुद्रा द्वारा बहिर्मुख हुआ साधक समाधिनिष्ट होजाता है। इस क्रम मुद्रा में पहिले बाह्य विषयों को ग्रास करते हुये अन्दर जाता है। और संवित में प्रवेश करता है। फिर बाहर के पर्दाथों में प्रवेश करता है, ऐसा संवित से एकता के कारण हो जाता है। अतः इस मुद्राक्रम में बाह्यक्रम और अन्तःक्रम दोनों ही हैं।

ऊपर जो निमीलन समाधि की अवस्था के बारे में कहा गया है उसी को क्रम सूत्रों में कही गई बात से समझाया गया है। क्रम मुद्रा से साधक निमीलन के रस से विभोर जब बहिर्मुख होता है तो उस समय भी उसे संवित के साथ एकाग्रता का अनुभव होती है। वह बाह्य विषयों को ग्रास करके (उन्हें अपने से एक्य करके) अन्तर्मुख होता है, आत्मस्वरूप में लीन होता है। तत्पश्च वह फिर से बहिर्मुख होता है, सारे पदार्थों को अपनी ही स्फार रूप देखता है क्यों कि उसे संवित से एकता हाती है। उसे अन्तर्मुख (intoversion) एवं बहिर्मुख (extroversion) क्रम (in succession) से होता है, और दोनों अवस्थाओं में उसे चिति के साथ एकता का अनुभव होता है। यही मुद्रा क्रम हैं।

Krama is succession and Samvit or Awareness - reality itself is succession.

अत्रायमर्थः सृष्टि–स्थिति–संहृतिसंविच्चक्रात्मकं क्रमं मुद्रयति, स्वाधिष्ठितम् आत्मसात करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः, तया 'क्रममुद्रया'; 'अन्तरिति' – पूर्णहन्ता – स्वरूपया; 'बहिर्मुख' – इति, विषयेषु व्यापृतः' अपि; 'समाविष्टः' – साक्षात्कृतपरशक्तिस्फारः 'साधकः' – परमयोगी भवति। तत्र च 'बाह्याद' ग्रस्यमानात् विषयग्रामात्, 'अन्तः – परस्यां चिति भूमौ, ग्रसनक्रमेणैव 'प्रवेशः' – समावेशो भवति। 'आभ्यन्तरात' चितिशक्तिस्वरूपात च साक्षात्कृतात् 'आवेशवशात' – समावेशसामर्थ्यात् एवं 'बाहय स्वरूपे' – इदन्तानिर्भासे विषयग्रामे, वमनयुक्तया 'प्रवेशः' – चिद्रसाश्यानता प्रथनात्मा समावेशो

जायते; – इति 'सबाह्याभ्यन्तरः अयं' नित्योदितसमावेशात्मा, 'मुदो' – हर्षस्य वितरणात परमानन्द स्वरूपत्वात, पाशद्रावणात, विश्वस्य अन्तः तुरीय सत्तायां मुद्रणात च मुद्रात्मा, क्रमः अपि सृष्टयादि क्रमाभासकत्वात तत्क्रमाभासरूपत्वात च 'क्रम' इति अभिधीयते इति ।।

इस का अर्थ यह है। सृष्टि, स्थिति, संहार संवित चक्र रूपी क्रम को स्थापित करती है (क्रम से आनन्द देती है अर्थात स्थापित करती है) अर्थात इस क्रम को आप इस की अधिष्ठात्री बन कर इसे आत्ममय बनाती है। यही तुरीय रूप चितशक्ति ही क्रम मद्रा कहलाती है। 'अन्तरितिः' पूर्ण अहन्ता रूप से 'बहिर्मुखः' बहिर्मुख हुआ (भी हो, अथात शब्द आदि आदि विषयों में लगा भी हो) (फिर भी वह साध क) 'समाविष्टः' पर शक्ति (चित शक्ति) के विकास को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता हुआ 'साधकः' परम योगी बनता है। उस में (मुद्रा क्रम में) "बाह्याद" बाहर के विशय समूह को ग्रास करते हुये 'अन्तः' अन्दर परा शक्ति रूप चित शक्ति से एकाग्रता करने से ही 'प्रवेश' समावेश प्राप्त होता है। "अभयान्तरात" चिति शक्ति के स्वरूप को प्रत्यक्ष भाव से अनुभव (साक्षात, अधीन) करने से "आवेशवशात" समावेश के सार्मथ्य के कारण ही 'बाह्यस्वरूपे' बाहर ठहरे हुये इदन्ता इस रूप विषय समूह को वमन की युक्ति से 'प्रवेशः' चैतन्य रस (चित रस) के गाढा होने के रूप से समावेश प्राप्त करता है। यह मुद्रा क्रम 'सबाहयाभ्यन्तरः' बाहर और अन्दर दोनों अवस्थाओं में नित्य उदय में आया (हुआ) समावेश (रूप) है। 'मुदो' हर्ष (आनन्द) को देने के कारण परमानन्द स्वरूप होने के कारण, तथा सारे पाशों (बन्धनों) को काटने (दूर करने) से जगत को अहंता रूप तुरीय सता से मुद्रित (एकता देने) करने से यह मुद्रा रूप है। यह (मुद्रा क्रम ही) सृष्टि आदि क्रम को भासित (प्रकट) करने वाला होने के कारण और उस क्रम के रूप से प्रकट होने के कारण इसे 'क्रम' के नाम से भी पुकारा जाता है।

क्रम सूत्र में ऊपर कही हुई बात को विस्तार से फिर बताया गया है। सृष्टि, स्थिति तथा संहार का क्रम संवित चक्र रूप है। अर्थात तुरीय रूप है। तुरीय

रूप चिति शक्ति ही मुद्रा क्रम से सृष्टि, स्थिति तथा संहार के रूप से संवित के सद्रश होती है। अर्थात आप ही इस क्रम की अधिष्ठात्री बन कर इसे आत्मय करती है। वही तुरीय रूप चिति शक्ति ही 'क्रम मुद्रा' है।

उसी क्रम मुद्रा से, पुर्ण अहंता रूप बना हुआ साधक क्रम (मुद्रा) से बहिर्मुख तथा अतंर्मुख होता है। बहिर्मुख होने की अवस्था में वह साधक शब्द आदि विषयों में लगा भी हो (अंथात वह आंखों से देखता हो, कानों से सुनता हो आदि), फिर भी वह अपनी चित शक्ति के विकास को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है (वह शक्ति के स्फार को अपने अधीन करता है) ऐसा ही साधक परम योगी है। उस साधक की उत्तमता यह है कि वह बाहर के पदार्थ समूह को अपने अन्दर की परा शक्ति रूप चित्ति शक्ति से एक करके समावेश को प्राप्त होता है। फिर वह चित्ति शक्ति के स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है। तत्पश्चात अन्तर्मुख होने से जो उसे समावेश मिलता है, उसके सार्मथ्य के कारण से बहिर्मुख होके भी बर्हिपदार्थ समूह को अपना आत्मस्वरूप ही देखता है अर्थात अन्दर की चिन्ति शक्ति के स्वरूप से समावेश के कारण ही बाहिर ठहरे हुये इदन्ता रूप विषय समूह को वमन (vomit) की युक्ति से सृष्टि करके, समावेश को प्राप्त होता है। ऐस चित् रस के स्थूल होने से होता है। यही क्रम मुद्रा है।

यह क्रम मुद्रा बाहर और अन्तर (अंहता और इदंन्ता) दोनों प्राकार की अवस्था में निव्युत्थान, समाधि रूप है। यह (मुद्रा) तो परमानन्द स्वरूप है। यह सब को आनन्द देती है। यह देह अभिमान, भेद आदि बन्धनों का नाश करती है। एवं जगत को अहन्ता रूप तुरीय सत्ता से एक्य करती है। इन सब कारणों के कारण यह मुद्रा रूप है।

यह (मुद्रा) सृष्टि आदि क्रम को प्रकट करने वाला एवं आप भी उसी क्रम रूप से प्रकट होती है। अतः इसे 'क्रम' नाम से भी पुकारा जाता है।

(1) सृष्टि स्थिति तथा संहार चित्त शक्ति से हर किसी में दिखाई दे, वही मुद्रा क्रम है।

(2) जाग्रत, स्वप्न एवं सुषप्ति तीन अवस्थायें हैं। साधारणतः जगे होने को, निद्रा में स्वप्न और गाढी निद्रा को यह तीन अवस्थायें कहते है। सर्वसाधारण अर्थ के विषय ज्ञान को जाग्रत, अस्फुर विवेक को स्वप्न एवं विवेकरहित गाढ तम को सुषप्ति कहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में जो अवस्था हर समय रहती है उसे तुर्य अवस्था कहते है।

(3) बहिर्मुखता में भी अपना 'शिव रूप' होने का अवभासन एवं अन्तर्मुखता अर्थात चित्स्वरूप में विश्रान्ति, यह दोनो साधक के अपने शक्ति चक्र का विकास है। बहिर्मुख होते

समय वह सारे वेद्य पदार्थ की सृष्टि करता है और अर्न्तमुख होते समय लय (अर्थात संहार) करता है। जब साधक को संवित शक्ति के साथ एक्य होता है तो दोनों (स्थिति ओर लय) में स्वरूप सत्ता का अनुभव रहता है।

इदानीम अस्य समाधिलाभस्य फलमाह

अब (इस सूत्र में) इस समाधि के प्राप्त होने का फल बताते है।

इस सूत्र में बताया गया कि समाधि कैसे प्राप्त होती है। अगले (20 सूत्र) में अब यह बताया गया है कि जिस साधक को समाधि का लाभ हुआ हो, उसे क्या फल मिलता है।

तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्या – त्मकपूर्णाहन्तावेशात्सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिज संविद्देवता चक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम।।२०।।

तब (समाधि लाभ होने पर), प्रकाश और आनन्द ही जिसका सार है, ऐसे महामन्त्र का प्राण बनी हुई अकृत्रिम अहंन्ता में प्रवेश करने से सदा सृष्टि और संहार (आदि) करने वाली अपनी संवित देवी रूप चक्रेश्वर के शक्ति चक्र पर ईश्वरता एवं साम्राज्य (साधक को) प्राप्त होता है। यह सब शिव रूप ही है।

जब साधक को समाधि का लाभ प्राप्त होता है तो पूर्ण अहंन्ता का वह पद (State) आजाता है जिसका प्रकाश एवं आनन्द ही सार है। वह योगी तो सदा तथा सर्वत्र सृष्टि स्थिति तथा संहार करने के भाव से अपनी संवित (शक्ति के) देवता रूप शक्ति चक्र पर साम्राज्य प्राप्त करता है। अर्थात वह शिव रूप ही हो जाता है।

दूसरे शब्दों में जब योगी को समाधि लाभ प्राप्त होता है तो उसे सृष्टि, संहार आदि करने वाले अन्तःकरण एवं बहिष्करण रूप करणेश्वरी रूप देवियों (दिग्, खेचरी आदि) के समूह रूपी (संवित देवता रूप) शक्ति चक्र पर नियंत्रण हो जाता है, ऐसा 'पूर्ण अहंता' के पद को प्राप्त होने से होता है। और वह पद तो 'अहं' महा मन्त्र का वीर्य रूप होने से प्रकाश तथा आनन्द का सार है और

वह योगी सृष्टि, स्थिति, संहार कर सकता है। यही कल्याण है। अथात जो कुछ बताया गया वह सब शिव रूप ही है, क्योकि यह शिव से ही निकला है, शिव से अभिन्न है और उसकी प्राप्ति के लिये उपाय रूप भी है।

नित्योदिते समाधौ लब्धे सति 'प्रकाशानन्द सारा' – चिदाह्लादैकघना' 'महती मन्त्रवीर्यात्मिका' – र्सव मन्त्र जीवित भूता 'पूर्णा' पराभट्टारिकारूपा या इयम 'अहन्ता' – अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः, तत्र 'आवेशात' 'सदा' कालाग्न्यादेः चरमकलार्पयन्तस्य विश्वस्य यौ 'र्सगसंहारौ' – विचित्रौ सृष्टि प्रलयौ 'तत्कारि' यत 'निज संविद्देवताचक्र' 'तदैश्वर्यस्य' 'प्राप्तिः' – आसादनं 'भवति', प्राकरणिकस्य परमयोगिन इत्यर्थः; 'इति' एतत र्सवं शिवस्यरूपमेव इति उपसंहार :– इति संगति।

(जब) नित्योदित (अटल) समाधि का लाभ हो गया हो, तो ('प्रकाशानन्द सारा' अर्थवत है) चित शक्ति के आनन्द के एकता के समूह रूप बढी (मन्त्रवीर्यात्मिका अर्थात) सब मन्त्रों का जीवन बनी हुई जो यह पूर्ण, उत्कृष्ट परभाट्टारिका रूप संवित अथात स्वाभाविक अहंता है जो अपने सच्चे स्वरूप का विर्मशरूप स्वात्मरूपी आनन्द है, उस में (योगी को) आवेश अथात एकाग्रता से प्रवेश करने से सदा, नित्य, पृथ्वी तत्वसे लेकर शिवतत्व तक (36 तत्व रूप) विश्व के जो विचित्र सृष्टि एवं संहार का करने वाला (जो अपने) संवित देवताओं का चक्र है उसपर स्वामीभाव की प्राप्ति (होती है) उस परमयोगी को होती है (जिस का प्रसंग इस प्रकरण में किया गया है, यही सूत्र का भाव है) यह सब शिवरूप ही है, यह ग्रन्थ का अन्त सूचित करता है, इस प्रकार पदों की संगति है।

जिस साधक को क्रम मुद्रा सिद्ध हुई, वह हर समय अटल समाधि में होता है। ऐसे साधक (योगी) को क्या लाभ होता है वही बात यहां कही गई है। स्वाभाविक अहंता अर्थात संवित, प्रकाश, एवं आनन्द का सार है, वह चित शक्ति के आनन्द की एकता का समूह रूप है। सब मन्त्रों का जीवन है।[1] यह पूर्ण, उत्कृष्ट, अपने सच्चे स्वरूप का विमर्श रूप स्वात्म रूपी आनन्द है जिसे

पराभट्टारिका रूप कहते है। उसी के साथ योगी की एकाग्रता होती हैं। (यही समाधि है)। ऐसा होने पर कालाग्नि रूद्र[2] से पृथ्वी तत्व तक, सदा ही इस 5 कला रूपी विश्व के सृष्टि स्थिति तथा संहार करने का जो संवित चक्र है उस पर इस योगी को स्वामी भाव प्राप्त होता है। (दिग – खेचरी आदि जो शक्तियां हैं उन पर नियंत्रण हो जाता है, अतंःकर्ण और बहिष्करण की करणेश्वरी शक्तियों के समूह पर स्वामीभाव की प्राप्ति होती) जिस योगी के बारे में कहा गया है, उसी को यह सब मिलता है। जो कुछ भी कहा गया है वह तो केवल शिव रूप ही है। अतः जिस योगी को यह अवस्था मिलती है वह भी साक्षात 'शिव' ही है।

1. 'शब्द' ही यह विश्व है, और शब्दों के समूह से मन्त्र बनता है, जो रक्षा करता है। मन्त्र तो करोडों है, और इन सब मन्त्रों की एकबद्वता (Integrated state) को 'महामन्त्र कहा है उस 'महामन्त्र' की जो शक्ति है वह संवित से ही मिलती है, अतः संवित को ही महामन्त्र, अर्थात सारे मन्त्रों का जीवन कहा है।

2. सारा जगत तत्वों का बना है, जो 'शिव' से 'पृथ्वी' तत्व पर्यन्त है। इन तत्वों को कई वर्गों में बांटा गया है। एक तरीका यह है।

1. निवृति कला :

पृथ्वी तत्वः– इस में 16 भवन है। इस को कालाग्नि रूद्र भुवन कहते हैं।

2. प्रतिष्ठा कला :

जल तत्व से प्रकृत्ति तत्व तक : इस में 56 भुवन है।

3. विद्या कला :

पुरूष तत्व से माया तत्व तक : इस में 28 भुवन है।

4. शन्ता कला :

शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिवतत्वः इस में 18 भुवन है।

5. शन्तातीता कला :

शिव एवं शक्ति तत्व : इस में कोई भुवन नहीं है कुल 118 भुवन हैं।

इस संर्दभ में देखिये

"भूमौ निवृत्तिरुदिता पयसा प्रतिश्ठा............"

श्री पंचस्तवी स्तव 4 श्लोक 26

तत्र यावत् इदं किंचित संवेद्यते, तस्य संवेदनमेव स्वरूपं; तस्यापि अन्तर्मुखविर्मश मया: प्रमातार: तत्त्वम्; तेषामपि विगलितदेहाद्युपादिसंकोचाभिमाना, अशेषशरीरा सदाशिवेश्वरतैव सारम; अस्या अपि प्रकाशैकसद्भावापादिताशेष विश्वचमत्कारमय: श्रीमान महेश्वर एव पर्माथ:; – नहि परमार्थिक प्रकाशावेशं बिना कस्यापि प्रकाशमानता घटते – स च परमेश्वर: स्वातन्त्र्यसार्त्वात् आदि – क्षान्ता – मायीय शब्दराशिपरामर्शमयत्वेनैव ऐतत्स्वीकृतसमस्तवाच्य – वाचकमयाशेषजगदानन्द सद्भावपदनात् परं परिपूर्णत्वात् र्सवाकाङ्क्षाशून्यतया आनन्दप्रसर निर्भर:;

भाव यह है कि जब तक किसी (वेद्य) पदार्थ का ज्ञान हो तो वह ज्ञान ही उसका स्वरूप है। उस संवेदन (ज्ञान) का भी अन्तर्मुख (संवित रूप) विमर्श रूप प्रमाता (जानने वाला) का ही स्वरूप है। उन (प्रमाताओं) का भी शरीर आदि उपाधि रूप संकोच का अभिमान (जब) विगलित हो जाता है, (जब उन्हें ज्ञान होता है कि इस सब का) सब शरीरों से युक्त सदा शिव और ईश्र (पद) ही सार है। इस (सदा शिव भाव और ईश्वरता) का प्रकाश से एकता भाव सिद्ध होने पर सारे विश्व के चमत्कार रूप श्रीमान महेश्वर (शिव भाव) ही सार है (ऐसा अनुभव एवं ज्ञान होता है।) क्योकि सच्चे (स्वाभाविक) चित् प्राकश के आवेश के बिना किसी भी (प्रमाता या प्रमेय) की सिद्धि नहीं हो सकती। वह परमेश्वर ही स्वतंत्रता भाव के सार रूप होने के कारण, 'अ' से 'क्ष' तक माया में शब्द समूह के परार्मश युक्त (विर्मश रूप से युक्त) होने से, स्वीकार करता है जिस से ऐसे सभी (वाचिक) शब्द और र्अथ जगत के आनन्द का सद्भाव प्राप्त करने से परिपूर्ण भाव से, सारी आकांड्क्षाओं से रहित होने के कारण आनन्द के प्रवाह से भरा हुआ है।

इसी बात को फिर से समझाया गया है कि समाधि प्राप्त योगी की अवस्था क्या होती है। ऊपर कहा गया कि वह योगी तो 'शिव' स्वरूप ही होता है। उसी भाव को दूसरे प्रकार से कहा गया है कि ऐसे साधक के लिये, ज्ञान, पर्दाथ और जानने वाला एक ही होते है (Knower, knowledge and

known are one!)। जिस पर्दाथ का ज्ञान हो, उस पर्दाथ का स्वरूप तो वह ज्ञान ही है। और उस ज्ञान का विर्मश रूप तो प्रमाता (जानने वाला) ही है अतः ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता (प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण) सब एक ही है।[1] जिन प्रमाताओं को यह अनुभव होता है, उन्हें पहिले शरीर आदि उपाधियों (झूठी अहंता) के संकोच का अभिमान समाप्त होता है। तो केवल सदाशिव एवं ईश्वर पद पर उनकी स्थिति होती है। फिर अभ्यास से प्रकाश से एकता भाव सिद्ध होने से यह ज्ञान होता है कि सारे विश्व का सार तो श्रीमान महेश्वर (स्वात्म शिव) है। क्योकि चित्त प्रकाश के बिना किसी (प्रमाता या प्रमेय) का अस्तित्व नहीं हो सकता है। 'शिव' तो सारे विश्व का रूप लेता है, एवं वह स्वतंन्त्र है, अतः इस विश्व को, जो 'शब्द ब्रहम' रूप है।[2] उस को शब्द राशि के रूप में ('अ' से 'क्ष' तक) स्फारित करता है। परन्तु परिपूर्ण भाव के होने से, माया से उत्तीर्ण शब्द समूह के परार्मशयुक्त होने से, सभी शब्द और अर्थमय जगत के आनन्द के सत्ता को सिद्ध करने के कारण आनन्द (के प्रसर) से भरा हुआ है।

2. शब्द ही चराचर में व्याप्त और इसी से चराचर वाच्य है। विमर्श से पूणाहंता में प्रवेश का अथ, शब्दराशि भैरव के स्वरूप में विश्व के साथ अभेद, पूर्णाहंता के विर्मश का विकास है। सारी शब्द राशि 'अ' से 'क्ष' तक पचास अक्षरों की स्थिति रूप है।

1. देखिये

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
आज्ञानादाति यत्रेदम सोऽहमस्मि निरञ्जनः।।

(अष्टावक्र गीताः 2–15)

अत एव अनुत्तराकुलस्वरूपात अकारात आरभ्य शक्तिस्फाररू– पहकलापर्यन्तं यत् विश्वं प्रसृतं, क्षकारस्य प्रसरशमनरूपत्वात्; तत अकार – हकारा–भ्यामेव संपुटीकारयुक्तया प्रत्याहारान्यायेन अन्तः स्वीकृतं सत् अविभाग वेदनात्मक बिन्दुरूपतया स्फुरितम अनुत्तर एव विश्राम्यति; — इति शब्दराशिस्वरूप एव अयम अकृतको विमर्शः।

इस लिये सब तत्वों से परे और अनुत्तर स्वरूप (शिव) 'अ' से आरम्भ करके शक्ति स्फार रूप 'ह' कार तक जो जगत प्रसर में आया है उसका 'क्ष' कार पर ही प्रसर शांत हो जाता है। वह (विश्व) 'अकार' और 'ह' कार से ही अपने स्वरूप में लीन करने से, (जैस वस्तुऐं एक डिब्बे में बन्द की जाती है) उसी संपुटकार युक्ति से, प्रत्याहार के न्याय से, अन्तर्मुख भाव में ले जाने से, अपने स्वरूप में ही अङ्गीकार किया हुआ है, निर्विभाग बिन्दु के रूप भाव से स्फार में आया हुआ जगत अनुत्तर रूप (अहं रूप) में ही विश्रांति को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वभाविक शब्द समूह रूप (विर्मश) ही असली स्वाभाविक अकृत्रिम विर्मश (अहं विर्मश) है।

'शिव' सब तत्वों से परे और अनुत्तर स्वरूप है। 'शब्द ब्रहम' के रूप में वह जब विश्व के रूप में स्फारित होते है तो 'अ' (शिव) से आरम्भ करके 'ह' (जो शक्ति का स्फार रूप है) तक प्रसर में आता है (अंथात 36 तत्वो के रूप में)। इस तरह जगत का प्रसर (अंथात शक्ति का प्रसर) 'क्ष' कार पर शान्त हो जाता है। और योगी इस 'विश्व' को जो 'अकार' और 'हकार' (शिव शक्ति) रूप है, अपने स्वरूप में लय करता है उसी प्रकार से जैसे वस्तुए डिब्बे में बन्द की जाती हैं। वापस अन्तर्मुख भाव में ले जाने से, जो अपने ही स्वरूप में लय किया है तो जगत जो र्निविभाग ज्ञान रूप बिन्दु (ँ) के रूप भाव से स्फार में आया है, वह जगत अनुत्तर रूप (अंह) में विश्राति कों प्राप्त होता है। इस प्रकार यह स्वाभाविक अहं विर्मश शब्द समूह रूप है।

1. 'शब्द–समूह' रूप जगत के बारे में समझने के लिये देखिये तन्त्रालोक (में मातृका चक्र) तथा
Garland of letters - John Woodroof
2. 'ह' कार शक्ति रूप है, और 'ह' कला ही व्योम कला है। उस के परे कुच्छ भी नहीं है।

यथोक्तं

> **'प्रकाशस्यात्म विश्रान्तिरहं – भावो हि कीर्तितः।**
> **उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः।।**
> **स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ।'**

इति।

जैसा कि कहा गया है:

जब प्रकाश अपने ही स्वरूप (अहंता) पर ठहरा रहता है तो उसी को अहंभाव से पुकार जाता है, और उसी को (आत्म) विश्रांति भी कहतें है क्योंकि वहां किसी प्राकर की अपेक्षा नहीं रहती है, इसी (अहं भाव) को स्वातंन्त्र्य, कर्ताभाव और प्रधान ईश्वर भाव भी कहा जाता है।

'अहं भाव' का अंथ है अपने ही स्वरूप पर स्थिति। जब ऐसा होता तो आत्म विश्रांति प्राप्त होती है। जब योगी इस अवस्था पर होता है तो वह 'शिव' ही होता है अतः उसे किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रहती है। 'शिव' तो स्वतंत्र है तथा कुछ भी करने की क्षमता रखता है (सर्वकर्तृत्व भाव)। यह स्वातंत्र्य, या र्कता भाव अर्थात ईश्वर भाव ही मूलतः अहं भाव है।

1. देखिये :

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व में विषय दस्यवः।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा में गलिता स्पृहा।।

(अष्टावक्र गीता 28–2)

एषैव च अहन्ता सर्वमन्त्राणाम् उदयविश्रान्ति स्थानत्वात् एतद्बलेनैव च तत्तर्दथक्रियाकारित्वात् महती वीर्यभूमिः। तदुक्तम

'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा ....।'

इत्यादि

.... त एते शिवधर्मिणः।।'

इत्यन्तम श्रीस्पन्दे। शिवसूत्रेषु अपि

'महाहदानुसंधानान्मन्त्र वीर्यानुभवः,

(१३॰२२सू॰)

इति।

यही अहतां सारे मन्त्रों का उदय, तथा विश्राति स्थान है और इसी (अहन्ता के) बल से (इन को) भिन्न भिन्न कार्य करने की भूमि मिलती है। जैसा कि स्पन्दशास्त्र में कहा है 'उसी (अहं भाव) के बल से सभी मन्त्र (ठहरे) है.............'

इस श्लोक से लेकर '.............यह सब मन्त्र षिव रूप ही है' इस श्लोक तक कहा गया है।

शिव सूत्रों में भी यही बात कही गई है:

बहुत बड़े सागर (परा शक्ति) के विर्मश करने से सब मन्त्रों के सार रूप अहन्ता का ज्ञान हो जाता है।

यह अहंता (अकृत्रिम) बड़े ही बल (चिद्बल) का स्थान है, क्योकि सभी मंत्र (अकार से हकार तक) इसी अहंन्ता से उदय करते है और इसी में लय भी हो जाते है और इसी अहन्ता के बल से ही अपने अपने भिन्न भिन्न काम कर सकते है। यही बात स्पन्द शास्त्र (2 नि॰ 1 का॰) में कही गई है "उसी अहन्ता के बल से सभी मन्त्र ठहरे है। इस श्लोक से लेकर "तो यह सभी मन्त्र शिव के धर्म (चित् धर्म) युक्त है।" इस श्लोक तक कहा गया है।

शिव सूत्रों (2 उन्मेश सूत्र 22) में भी कहा गया है।

बहुत बडे सागर रूप संवित भगवती को प्रत्यक्ष करके, जानने से सभी मन्त्रों के सार रूप अहन्ता का ज्ञान हो जाता है।

तदत्र महामन्त्रवीर्यात्मिकायां पूर्णाहन्तायाम 'आवेशो' – देह प्राणादि निमज्जनात् तत्पदावाप्त्यवषटम्भेन देहादीनां नीलदीनामपि तद्रसाप्लावनेन तन्मयीकरणम। तथा हि देह सुख नीलादि यत् किंचित प्रथते, अधयवसीयते, स्मर्यते संकल्प्यते वा, तत्र र्सवत्रैव भगवती चितिशक्तिमयी प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति; – तदस्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात् इति उक्तत्वात्। केवलं तथा स्फुरन्त्यपि सा, तन्मायाशक्तया अवभासित देहनीलाद्युपरागदत्ताभिमानवशात भिन्न भिन्नस्वभावा इव भान्ती ज्ञान संकल्पाध्यवसायादि – रूपतया मायाप्रमातृभि: अभिमन्यते वस्तुतस्तु एकैव असौ चितिशक्ति:। यथोक्तम्

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदर्ाथक्रमरूषिता
अक्रमानन्तचिद्रूप: प्रमाता स महेश्वर:।।'

इति। तथा

'माया शक्तया विभो: सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञान संकल्पाध्यवसायादिनामभि:।।'

इति।

इस सूत्र में महा मन्त्र के सार रूप अकृत्रिम अहंता में आवेश अर्थात
प्रवेश करना उसके साथ अभेद हो जाना है। जिसका अभिप्राय यह है
कि शरीर, प्राण आदि जो अपरिमित अहंतायें हैं उनको दबा कर (हटा
कर), पूर्ण अंहत्ता के पद को दृढता से पकडने (प्राप्त करने के निश्चय
के साथ अभ्यास करने से), शरीर और नील पीत आदि वेद्य को उसी
अहन्ता के रस से सींच कर, वह सब चित् रूप ही बन जाते है। वह
ऐसे: कि शरीर, सुख दुख अथवा नील पीत आदि वेद्य पर्दाथ जो कुछ
भी प्रकट होते है, निश्चय किये जाते है, स्मरण किया जाता है अथवा
संकल्प किये जाते हैं उन सब में भगवती चिति शक्ति ही आधार बन कर
स्फुरित होती है। उसके विकसित न होने पर यह शरीर आदि कोई भी
वेद्य पर्दाथ प्रकट न होता, यह बात पहिले भी कही गई है। केवल इतनी
ही बात है कि, उसी तरह (चिद्रूप) प्रकट होने पर भी वह उस षिव की
माया शक्ति से शरीर आदि नील पीतादि पदार्थों को प्रकट करती है और
उन्ही के संस्कार से दिये हुए अभिमान के कारण वह भिन्न भिन्न स्वभाव
वाली जान पडती है और माया प्रमाता (जीव प्रमाता) इसी चिति को, जो
एक ही है, ज्ञान, संकल्प, निश्चय इत्यादि भिन्न भिन्न रूपों से अभिमान
करता है (मानता है) वास्तव में वह चिति शक्ति एक ही है। जैसा कहा
गया है।'

यह संवित शक्ति जो है, अनेक पर्दाथें के रंग में रंगी जाती है
फिर भी, अक्रम, अनन्त और चित रूप है और यही प्रमाता परम शिव
भी है। तथा,[२]
शिव की माया षक्ति से ही चिति शक्ति भिन्न भिन्न वेद्यों के रूप में दिखती
है। और इसी को ज्ञान संकल्प आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

यहां पर महामन्त्र के सार रूप अकृत्रिम अहन्ता में प्रवेश का अंथ उस के साथ
अभेद होना है। अभेद होने का अभिप्राय यह हैं कि शरीर, प्राण आदि जो परिमित
अहन्तायें है, उन्हें अप्रधान करके (दबा कर), पूर्णाहन्ता के पद को दृढता से

पकडा जाये (यह पद तो तभी प्राप्त होगा जब दृढ निश्चय के साथ इसका अभ्यास किया जाये) अभ्यास करने से शरीर ओर नील पीतादि जो वेद्य पर्दाथ है (उन्हें उसी अहन्ता के रस से सींच कर) चित् रूप ही बन जाते है (अर्थात सारा विश्व 'अह' रूप ही लगता है)।

वह ऐसे कि शरीर (स्थूल, सूक्ष्म) सुख या दुख, अथवा नील पीतादि पर्दाथ जो कुछ भी प्रकट होता है, निश्चय किया जाता है, स्मरण किया जाता है या संकल्प (विकल्प) किया जाता है, उन सब में, भगवती चिति शक्ति जो प्रकाश रूप है,[3] वही (चिति शक्ति) प्रधान बनी हुई है और विकसित है। अगर वह विकसित न होती तो यह शरीर आदि कोई भी वेद्य प्रकट न होता यह बात पहिते ही सिद्ध की गई है।

बात केवल इतनी है कि वैसे (चिद्रूप) प्रकट होने पर भी वह उसी शिव की माया शक्ति से शरीर आदि पदार्थों को प्रकट करती है, अथात माया शक्ति के कारण ही सारे पर्दाथ एक दूसरे से तथा अकृत्रिम अहं से भिन्न लगते हैं अर्थात चिति शक्ति, जो मूलतः एक ही है, वह भिन्न भिन्न स्वभाव वाली जान पडती है। और जीव प्रमाता इसी चिति को, जो एक ही है ज्ञान, संकल्प, निश्चय आदि भिन्न भिन्न रूपों से मानता है।

1. श्री प्रत्यभिज्ञा : 1 अधि 7 अह्नि 1 का॰
2. श्री प्रत्यभिज्ञा : 1 अधि 5 अह्नि 18 का॰
3. देखिये आश्रम से प्रकाशित 'परा प्रावेशिका'
4. देखिये 'एवंभूत' जगत प्रकाश रूपात कर्तुर्महेश्वरादभिन्नमेव भिन्नवेद्यत्वे प्रकाशमानत्वेन प्रकाशनायोगात न किंचित्स्यात – (परा प्रावेशिका)

एवम् एषा सर्वदशासु एकैव चितिशक्तिः विजृम्भमाणा यदि, तदनुप्रवेश – तदवष्टम्भयुक्तया समासाद्यते, तत् तदावेशात पूर्वोक्तयुक्तया करणोन्मीलननिमीलन क्रमेण सर्वस्य सर्वमयत्वात् तत्तत्संहारादौ अपि 'सदा सर्वसर्गसंहार कारि' यत् 'सहजसंवित्तिदेवताचक्रम'– अमायीयान्तर्बहिष्करणमरीचिपुञ्जः, तत्र 'ईश्वरता' – साम्राज्यं परभैरवात्मता, तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः।

यथोक्तम्

> 'यदा त्वेकत्र संरूढसत्दा तस्य लयोद्भवौ।
> नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत।।'

इति।

इसी प्रकार यह चिति शक्ति जो सब अवस्थाओं में एक ही है, भिन्न रूपों और दशाओं में उल्लास को आती है। और यदि उस (चिति शक्ति) में प्रवेश करने से और अपनाने से उसके साथ एकता प्राप्त हो तो उस के आवेश से पीछे बताई गई युक्ति से इन्द्रियों को संकोच और विकास के क्रम से, (जिस कारण) प्रत्येक वस्तु सर्वमय (३६ तत्वों से पूर्ण है), उस भिन्न भिन्न वस्तु (वेद्यों) की सृष्टि, संहार आदि (पंचकृत्यों) में भी नित्य सभी सृष्टि संहार आदि करने वाला जो स्वाभाविक ही संवित देवियों का चक्र (समूह) है अर्थात माया से ऊपर अन्तःकरण और बहिर्श्कण रूप शक्तियों का समूह है उस शक्ति समूह पर परमयोगी को स्वामी भाव प्राप्त होकर उनका सृष्टि संहार करने वाला परभैरव रूप सम्राट बन जाता है। जैसा कहा गया है:

> **जब योगी एक ही चितिशक्ति के अभ्यास पर आरूढ हो जाये, तो उसे पुर्यष्टक की सृष्टि और संहार करने की शक्ति मिलती है, और इस से शक्ति चक्र उसके अधीन होता है और वह उनका चक्रर्वती राजा बनता है।**

ऊपर कहा गया ति 'चिति शक्ति' एक ही है, संवित भगवती प्रत्यक्ष एवं स्वतः सिद्ध है, वह भिन्न भिन्न वेद्य पर्दाथों को अपने ज्ञान का विषय बना कर उनके संस्कारों के रंग में रंग जाती है और देशकाल, आकार आदि से संकुचित होकर भी अक्रम; अनन्त (असंकुचित) और चिद्रूप है। यही प्रमाता (ज्ञाता, कर्ता रूप) परम शिव भी है। और यही संवित भगवती व्यापक शिव की माया शक्ति का रूप धारण करके भिन्न भिन्न   वेद्यों (शब्द, र्स्पश आदि) को अपना विषय बनाती है और उसी को ज्ञान, संकल्प, निश्चय आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

इस प्राकर यह चिति शक्ति जो सब अवस्थाओं में एक ही है, भिन्न रूपों और दशाओं में उल्लास को आती है। और उसी चिति शक्ति में आवेश करने से और दृढता से उसके साथ एकता प्राप्त करने से, (यह सब इद्रियों

के संकोच ओर विकास के क्रम से, और जो पीछे युक्तियां कही गई हैं, उन युक्तियों से ही होता है) योगी को संवित देवियों के समूह पर स्वामित्व प्राप्त होता है अर्थात संवित देवियों (केर्णश्वरीयों, सूक्ष्म इन्द्रिय शक्तियों के समूह) पर, माया से उपर अन्तःकरण और बहिष्करण रूप शक्तियों के समूह पर स्वामीभाव प्राप्त होता है। अर्थात वह योगी सृष्टि, स्थिति, संहार आदि पंचकृत्य करने वाला पर भैरव (भरण, रवण एवं वमन करने वाला) रूप सम्राट बन जाता है।

जैसा कि सपन्द शास्त्र (3 नि॰19 का॰)
में कहा गया है:

जब योगी एक ही चिति शक्ति के अभ्यास पर पूर्णतः लग जाये तो वह पुर्यष्टक की सृष्टि और संहार का अभ्यास करता हुआ उसका भोक्ता (स्वामी) बन जाता है और इस से शक्ति चक्र उसके अधीन हो जाता है और वह (इस शक्ति चक्र) का चक्रवती राजा बन जाता है।

अत्र एकत्र इति

'एकत्रारोपयेसर्वम............!'

इति। चित्सामान्यस्पन्दभूः उन्मेषात्मा व्याख्यातव्या। तस्य इति अनेन

'पुर्यष्टकेन संरूद्ध...........................।'

इति। उपक्रान्तं पुर्यष्टकम एव परामृष्टव्यमः; न तु यथा विवरणकृतः 'एकत्र सूक्ष्मे स्थूले शरीरे वा' इति व्याकृतवन्तः। स्तुतं च मया

'स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां चक्रर्वती महेश्वरः।
संवित्तिदेवता चक्रजुषटः कोऽपि जयत्यसौ।।'

इति।

इस श्लोक में 'एकत्र' शब्द का अर्थ यह किया गया है: कि 'एक ही चिति शक्ति को सब का आधार बनाना चाहिये। चिति की व्याख्या की गई कि उन्मेष रूप सब में समान भाव से व्यापक स्पन्द अर्थात संविद्भगवती। इसी श्लोक में "तस्य" पद का अर्थ पुर्यष्टक से बन्धा (रुका) हुआ हैं। इस कारण आरम्भ में लाया हुआ पुर्यष्टक ही विर्मश करना चाहिये, और जैसे दूसरे टीका कारों ने इस का अंथ एक ही स्थूल अथवा सूक्ष्म षरीर पर...........किया है वैसे इस पद की टीका नहीं है। मै ने भी एक सूत्र में कहा है :-

स्वतंन्त्र चिति चक्र जो है उसका चक्रवर्ती राजा महेश्वर (शिव) है और वह (योगी) जय शील हो जिसने अपने अधीन कर्णेश्वरी के चक्र को किया हो।।

सपन्द शास्त्र के इस श्लोक "यदा त्वेकत्र.................में जो एकत्र शब्द प्रयोग में लाया गया है उसकी व्याख्या करते हुये उसका अंथ – विकास रूप सब में समान भाव से व्यापक स्पन्द अर्थात संविद्‌भगवती ही समझना चाहिये। 'तस्य' पद का अंथ यहां पर 'पुर्यष्टक से रुका हुआ लेना चाहिये। इस का भाषान्तरण या व्याख्या 'पुर्यष्टक' ही लेना चाहिये। न कि "स्थूल या सूक्ष्म शरीर" जैसा कि किसी व्याख्याकार (श्री कल्लट?) ने की है।

इसी बात के समझाते हुये श्री क्षेमराज अपने ही एक श्लोक का हवाला देते है, जिस में वह कहते है :–

कोई वह (लोकोत्तर) महा ऐश्वर्यान (शिव) जयन शील है जो स्वतन्त्र है (ज्ञान और क्रिया में स्वतंत्र है), जो चित रूप शक्ति चक्र का चक्रवंती राजा है और सभी अन्तःकरण और बहिष्करण रूपी शक्तियां जिसकी पूजा करती है।

इति शब्द उपसंहारे, यत एतावत् उक्त प्रकरणशरीरं तत् सर्व 'शिवम्' – शिव प्राप्ति हेतुत्वात, शिवात प्रसृत्वात शिवस्वरूपाभिन्नत्वात च, शिवमयमेव इति शिवम्।।

'देहप्राणसुखादिभिः प्रतिकलं संरुध्यमानो जनः
पूर्णानान्दघनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्वां चित्तिम्।
मध्येबोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं
यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः।।'
येषा वृत्तः शांकर शक्तिपातो
येऽनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः।
शक्ता ज्ञातुं नेश्वरप्रत्यभिज्ञा –
मुक्तस्तेषामेष तत्वोपदेशः।।

इस सूत्र के अन्त में 'इति' शब्द समाप्ति के अर्थ में आया है। जो कुछ भी आरम्भ से कहा गया है, वह 'शिव' रूप ही है। 'शिव' के साथ एकता की प्राप्ति का कारण होने से, शिव से ही प्रसर में आया है और 'शिव' के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण 'शिव' मय ही है, इस प्रकार यह सब 'शिव' अर्थात कल्याणमय है।।

साधारण जीव सदा ही शरीर, प्राण सुख दुख आदि पर आत्म अभिमान धारण करता है जिसकारण वह सब उसे आत्मज्ञान के रास्ते में रुकावटें डालते हैं, अतः वह अपनी चिति शक्ति जो प्रत्यक्ष और पूर्ण आनन्द स्वरूप है, को जान नहीं पाता। जो ज्ञानी पुरुष उस समस्त विश्व को ज्ञान रुपी अमृत सागर में चारो और सागर के फेन (झाग) के गोले के समान समझता है, वही एक विरला ही सद्गुरुओ से उपदेश किया हुआ है और वह प्रत्यक्ष शिव रूप ही है।

जिन भक्त पुरुषों पर शङ्कर भगवान ने अपना शक्ति पात (अनुग्रह) किया है, परन्तु अभ्यास कम होने के कारण वे तीक्ष्ण युक्तियों में समावेष्ट नहीं कर पाते और ईश्वर प्रत्यभिज्ञा जैसे ग्रन्थ को समझ नहीं सकते, ऐसे मुमुक्ष जनों के लिये यह परर्माथ का उपदेश किया गया है।

इस तरह यह 'प्रत्यभिज्ञा हृदय' समाप्त हुआ यह कृति श्रीमान राजानक क्षेमराजाचार्य जी, जो श्रीमान महा माहेश्वराचार्यों में भी उत्तम श्री अभिनवगुप्त के चरण कमलों के सेवक (शिष्य) थे।

पुस्तक के अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि यहां पर व्याख्या की समाप्ति हो रही है। जो कुछ भी बताया गया उसे फिर से संक्षेप में कहा गयां, अथात सारांश वह है :–

र्सस्व तो मूलतः शिव (का स्फार) ही है। अतः इस पुस्तक में जो भी कहा गया वह तो 'शिव' ही है क्योकि उसी से यह सब प्रसर में आया है और शिव के स्वरूप से अभिन्न है अतः 'शिव मय' ही है।

साधारण जीव तो सदा ही शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण), तथा प्राण आदि के सुख के पीछे लगा रहता हैं। (He is after physical and Vital pleasures) वह शरीर आदि को ही 'अह' समझता है और इस देह अभिमान के कारण उसे आत्मज्ञान नहीं मिलता। वह अपनी चिति शक्ति को जो प्रत्यक्ष,

पूर्ण आनन्द स्वरूप और 'शिव' से अभिन्न है, उस को जान नही पाता।

परन्तु वह ज्ञानी पुरुष इस समस्त विश्व को ज्ञान रूपी अमृत सागर में उसी सागर में उठे हुए झाग के गोले के समान, अर्थात उसी ज्ञानामृत से भिन्न दिखता हुआ भी उस जल से अभिन्न पहचानता है, वही तो 'परम सत्य' को जानता है। ऐसा विरला पुरुष ही सद्गुरुओं से उपेदश किया गया है और वह प्रत्यक्ष शिव रूप ही है।

***************** इति *****************

****

फतेह कदल, श्रीनगर (1884ई० में स्थापित)
स्वर्ण कॉलोनी, कैम्प गोल गुजराल,

Printed at abc # 25740004, 9419186289